40

संस्कृति

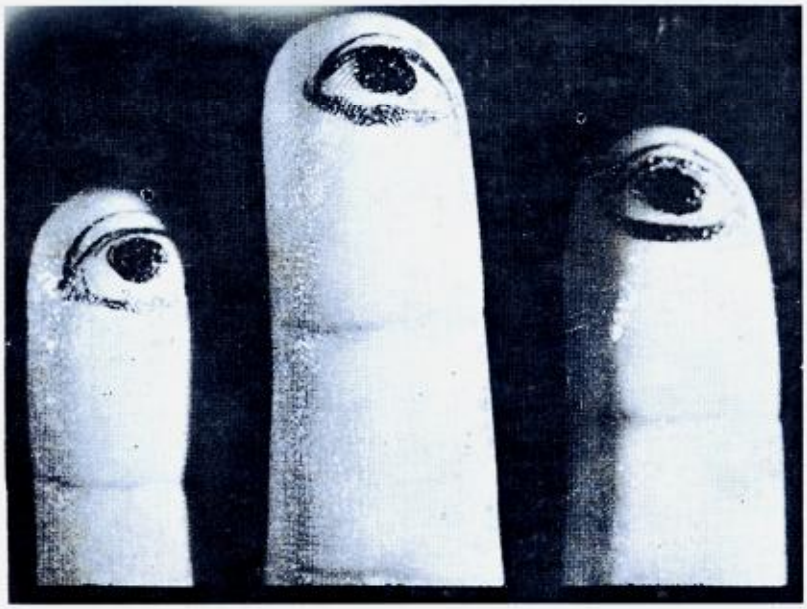

दो रुपए वर्ष 12 : अंक 4 और वर्ष 13 : अंक 1 (संयुक्तांक)

compiled and created by Bhartesh Mishra

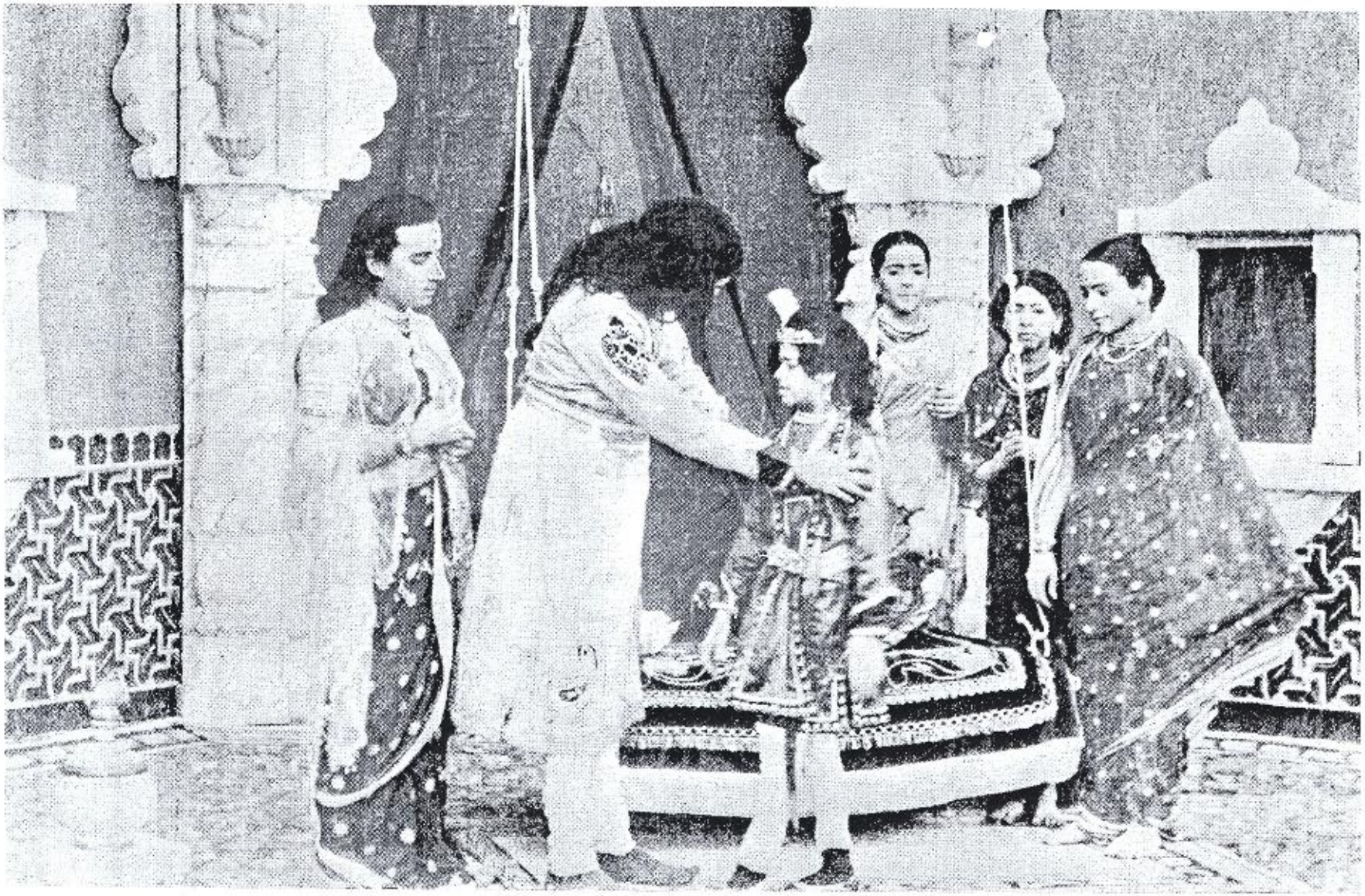

'राजा हरिश्चन्द्र' जिसका निर्माण और निर्देशन दादा साहेब फाल्के ने किया।

compiled and created by Bhartesh Mishra

वर्ष 12 अंक 4 तथा
वर्ष 13 अंक 1
(संयुक्तांक)
हेमंत 1892 शक तथा
ग्रीष्म 1893 शक

संस्कृति

प्राच्या नव्या विलसतुतरां संस्कृतिर्भारतीया

सांस्कृतिक विचारों की प्रतिनिधि
त्रैमासिक पत्रिका

(ग्रीष्म, पावस, शरत् और हेमन्त में प्रकाशित)

सम्पादकीय मंडल

रामधारी सिंह 'दिनकर'
डा० नगेन्द्र
डा० प्राण नाथ चोपड़ा
वल्लभदत्त (सचिव)

'संस्कृति' में प्रतिपादित विचार लेखकों के होते हैं, 'संस्कृति' के नहीं। अन्यत्र न छपी रचनाएं ही स्वीकृत की जाती हैं, पर फिर भी उन्हें 'संस्कृति' का उल्लेख करके उद्धृत किया जा सकता है। ऐसे प्रकाशन की एक प्रति सम्पादक के पास भेजी जानी चाहिए।

समीक्षा के लिए पुस्तकों की दो-दो प्रतियां भेजी जानी चाहिए।

चन्दा मनीआर्डर से भेजा जाना चाहिए।

संपादक, 'संस्कृति'
शिक्षा और समाज कल्याण मंत्रालय,
513-सी०, शास्त्री भवन,
डा० राजेन्द्र प्रसाद मार्ग,
नई दिल्ली-1,
टेलीफोन नं० 383283

वार्षिक चन्दा : चार रुपए
यह अंक : दो रुपए

विषय-सूची

दृश्य

भारत में फिल्में : एक संगोष्ठी
सामान्य सर्वेक्षण 3 जगमोहन
भारत में सिनेमा और सिनेमेटोग्राफी 10 नील गोखले
भारतीय फिल्म संगीत तथा नृत्य की परम्परा एवं प्रवृत्तियां 16 तारा रामस्वामी
भारतीय फिल्मों की विषय वस्तु 21 ख्वाजा अहमद अब्बास
यथार्थता और भारतीय चल-चित्र 26 विक्रम सिंह
भारतीय फिल्में तब और अब 28 सुभाष चन्द्र सरकार
फिल्म निर्माताओं का निर्भय 40 जगत मुरारी
भारतीय फिल्में और सेंसर 43 गोपाल दास खोसला

विविध

आधुनिक नाटक और लोक-नाट्य 46 देवी लाल सामर

स्तम्भ

2 संपादकीय
परिचय 52

compiled and created by Bhartesh Mishra

सम्पादकीय

संस्कृति के इस अंक में पाठकगण, भारत में फिल्मों के बारे में आशातीत जानकारी पाएंगे। "काव्येषु नाटकं रम्यं" के अनुसार यदि यह कह दिया जाए कि नाटकों में भी चित्रपट जन-साधारण को मनोरंजन का एक सुलभ और सस्ता साधन प्रतीत होता है तो इसमें कोई अतिशयोक्ति न होगी।

भारत को अपने अतीत पर गर्व है। इस अतीत में काव्य के क्षेत्र में बहुत गहन अनुशीलन हुआ है और काव्य का अनुशीलन मानव हृदय को उदार बनाता है। हम यहां काव्य की परिभाषा और उसके लक्षण के विषय में कुछ न कहकर केवल इस ओर इंगित करना अधिक समीचीन मानेंगे कि "काव्य शास्त्र विनोदेन कालो गच्छति धीमताम्"।

भारतीय फिल्मों में यदाकदा भारतीय संस्कृति का दिग्दर्शन होता है, जो निश्चय ही साधारण जनसमुदाय के लिए मनोरंजन के साथ-साथ अपनी संस्कृति के सम्बन्ध में उनकी जिज्ञासा की पूर्ति भी करता है, साथ ही आधुनिक सामाजिक चलचित्र समाज की कुरीतियों को दूर करने में जनता जनार्दन की भावना को उत्प्रेरित करता है। यह सच है कि प्रायः कुछ स्टंट फिल्में किशोरों के मन पर अवांछनीय प्रभाव डालती हैं जिसका निस्संदेह कोई न कोई ऐसा उपचार अवश्य ही ढूंढा जाना चाहिए जिससे किशोरों को समाज की बुराइयों के प्रति जागरूक रखने और उनमें एक अच्छे नागरिक बनने की दिशा में लगन पैदा हो सके।

विद्वान लेखकों ने अपने विभिन्न लेखों में भारतीय चलचित्र के सभी पहलुओं पर भलीभांति प्रकाश डाला है और हमें पूर्ण आशा है कि पाठकगण इन्हें रुचिकर एवं ज्ञानवर्द्धक पाएंगे।

compiled and created by Bhartesh Mishra

भारत में फिल्में

एक संगोष्ठी

सामान्य सर्वेक्षण

जग मोहन

फाल्के : भारतीय चलचित्र प्रवर्तक

30 अप्रैल, 1870 को महाराष्ट्र में नासिक के निकट त्र्यम्बकेश्वर नामक स्थान में एक निर्धन पुरोहित परिवार मे एक बालक का जन्म हुआ था। कोई भी ज्योतिषी इस बात की कल्पना भी नहीं कर सका था कि धुंधिराज गोविन्द फाल्के नाम का यह बालक आगे चल कर भारतीय चलचित्र-पिता के रूप में विख्यात होगा। इन्हीं शास्त्री जी को, जो बाद में दादा साहब के नाम से विख्यात हुए, भारत में चलचित्र प्रारम्भ करने का श्रेय प्राप्त है। उनके पूर्वज, जो ब्राह्मण थे, अनेक शताब्दियों तक भारत में साहित्य और अन्य कलाओं को जन्म देने, पुष्ट करने और संरक्षण देने के लिए प्रसिद्ध रहे हैं। किन्तु इस ब्राह्मण विशेष को बीसवीं शताब्दी की इस कला "चलचित्र" के मूल तत्वों को आत्मसात् करने और भारत में प्रचलित करने का सौभाग्य मिला। ऐसा करने में दादा साहब फाल्के ने भारतीय फिल्म उद्योग की आधार शिला रखी। यह उद्योग पूंजी निवेश की दृष्टि से मध्यम आकार के उद्योगों में विश्व में तीसरा और भारत में दूसरा स्थान रखता है।

compiled and created by Bhartesh Mishra

फाल्के अन्य महान प्रवर्तकों के समान प्रतिभाशाली व्यक्ति थे। उनकी अपनी बाल्यावस्था और युवावस्था में चित्रकारी, नाट्य अभिनय और जादू विद्या में अधिक रुचि थी। जब उनके पिता बम्बई चले गए तो फाल्के ने सर जे० जे० स्कूल आफ आर्ट्स में दाखिला लिया। उन्हें चित्रकला और प्लास्टिक कला में अच्छा ज्ञान था। उनमें कैमरे के बारे में ज्ञान प्राप्त करने की अधिक जिज्ञासा हुई और उन्होंने इसमें शीघ्र ही निपुणता प्राप्त कर ली। उन्होंने पुरातत्व विभाग में फोटोग्राफर व प्रिंट-मेकर के काम में नौकरी कर ली। सौभाग्य से इस नौकरी से वे मुद्रण प्रक्रियाओं में विशेष योग्यता प्राप्त करने के लिए इंगलैंड और योरूप जाने के योग्य हुए। उस समय तक सिनेमा के पूर्व प्रचारक दि लूमिनरी ब्रदर्स भारत में आ चुके थे और वे 'शताब्दी चमत्कार' (दि मार्वेल्स आफ दि सेंचुरी) 'विश्व चमत्कार' (दि वंडर आफ दि वर्ल्ड) जीते जागते फोटोग्राफिक चित्र नामक फिल्में प्रदर्शित कर चुके थे। उनसे और उनकी फिल्मों से प्रेरित होकर कुछेक भारतवासी पहले ही सिनेमा के प्रभाव में आ चुके थे। यद्यपि बम्बई के सबे दादा और कलकत्ता के हीरालाल सेन कुश्ती-मैच, बंदर का प्रशिक्षण, पूना-दौड़ और भारतीय रंगमंच पर खेले जाने वाले नाटक इत्यादि पर छोटी-छोटी फिल्में बनाने में अग्रगामी थे किन्तु भारतीय रूपक फिल्म राजा हरिश्चन्द्र, जो 3700 फुट लम्बी थी, बनाने का कार्य फाल्के ने ही पूरा किया था। फाल्के फिल्म प्रदर्शनकर्त्ता ने इस चित्र का आकार तीन मील बताया जिसमें 57000 गतिशील छाया चित्र थे और जिसे केवल तीन आने में देखा जा सकता था।

किन्तु मैं प्रसंग से अलग न जाकर फाल्के की जीवन गाथा के बारे में कुछ अधिक कहना चाहूंगा क्योंकि उन्होंने और उनकी फिल्मों ने भारतीय फिल्म उद्योग का सूत्रपात किया है। उनके पश्चिम से वापस आने के बाद दो महत्वपूर्ण घटनाएं घटी— एक तो यह कि कुछ समय के लिए उनकी आंखों की दृष्टि चली गयी, यदि उन्हें पुनः उनकी आंखों की दृष्टि प्राप्त न हुई होती तो सम्भवतः आज उनकी जन्म शताब्दी न मनाई गई होती, और दूसरी यह कि दिसम्बर 1911 में एक दिन उन्होंने "ईसा मसीह का जीवन चरित्र" (लाइफ आफ क्राइस्ट) नामक फिल्म देखी। वह इस फिल्म से इतने सम्मोहित हुए कि इसे देखकर उन्होंने भगवान कृष्ण पर फिल्म बनाने का निश्चय किया। अगले दिन उन्होंने अपनी पत्नी को साथ लिया, कुछेक धनराशि उधार ली और उसको अपनी योजना समझायी। तबसे उन पर एक धुन सी सवार हो गई थी। उन्होंने अपनी नौकरी छोड़ दी। अपना बीमा-पत्र बन्धक रख दिया। अपनी पत्नी के कुछ एक जेवरात बेच दिए और उसके पश्चात् वह फिल्म निर्माण के सिद्धांत और व्यावहारिक प्रयोग (प्रैक्टिकल) पर शिक्षा ग्रहण करने एवं कुछेक साज-समान जैसे विलियमसन कैमरा परफोरेटर तथा फिल्म उभारने की मशीन तथा प्रिंटिंग मशीन खरीदने के लिए लंदन को रवाना हो गए।

किन्तु भारत में वापस आने तक उनके मन से भगवान कृष्ण पर फिल्म बनाने का विचार लुप्त हो चुका था और उसकी बजाए उन्होंने पौराणिक गाथा पर आधारित सत्यवादी हरिश्चन्द्र फिल्म बनाने का निश्चय किया था। उन्होंने उसकी पाण्डुलिपि तैयार की, फिल्मों का छिद्रण किया, कैमरे में अपने हाथ से भरा, अभिनेताओं को आवश्यक निर्देश दिए, रसोई घर में फिल्म उभारी और उसके पश्चात् उसके प्रिंट भी तैयार कर लिए। उनके सामने एक जटिल समस्या उस समय आई जब उनकी फिल्म में स्त्रियों ने और यहाँ तक कि वैश्याओं ने भी काम करने से इन्कार कर दिया। अन्ततोगत्वा उन्होंने सालुंके नामक होटल में काम करने वाले एक लड़के को हरिश्चन्द्र की पत्नि तारामती का अभिनय करने के लिए चुना।

राजा हरीश्चन्द्र

मई 1913 में "राजा हरिश्चन्द्र" बम्बई में प्रदर्शित की गई थी। इसने लोगों में तहलका मचा दिया। थियेटर निरन्तर भीड़ से खचाखच भरा रहता था। तीन-तीन आने के टिकट तीन-तीन रुपए में ब्लैक से बेचे गए थे। जिन व्यक्तियों ने इस फिल्म के गतिशील छाया चित्रों को देखा वह उससे इतने मुग्ध हुए कि वह चित्रपट के सामने नतमस्तक हो गए। जिस समय नायक को विभिन्न प्रकार की कठिनाइयों का सामना करना पड़ा, उस समय उसे देखकर लोगों की आंखों में से अश्रुधारा प्रवाहित होने लगी। जब-जब फिल्म में हास्य रस के दृश्य दिखाए गए तब-तब हास्य का वातावरण उपस्थित हुआ। यह फिल्म भारत के अन्य भागों में भी लोकप्रिय हुई इसके साक्ष्य के रूप में एक दक्षिण भारतवासी प्रदर्शनकर्त्ता ने यह कहा था कि एक कक्ष में प्रातः सात बजे से अर्ध रात्रि तक जितने भी फिल्म शो दिखाए गए उनमें इतनी भीड़ थी कि उनसे प्राप्त रुपयों से एक बक्सा भर गया था और वह इतना वजनी था कि उसे बैलगाड़ी पर ले जाना पड़ा।

बाद में फाल्के अपनी फिल्मों को लंदन में ले गए जहां लोगों ने उनकी फिल्मों को बहुत पसंद किया और कारोबार करने के लिए प्रस्ताव (आफ़र) भी मिले। किन्तु उन्होंने देश वापस लौटना ही अधिक पसंद किया। उन्होंने अगले तीस वर्षों में (ऐसे कुछ समय को छोड़कर जबकि उन्होंने फिल्म बनाने का काम छोड़ना तय किया था तथा उसके पश्चात् बनारस चले गए थे) सौ फिल्में (लंकादहन, कृष्ण जन्म, कालिया मर्दन, भस्मासुर मोहनी, सेतुबन्ध इत्यादि) बनाईं। उनकी फिल्में जादू और चमत्कार से भरी होती थीं। देवी और देवता बादलों में रथ पर सवार थे। सिर काट दिए गए और बाद में उनको धड़ के साथ जोड़ा गया। बाण अग्नि के शोलों के रूप में परिवर्तित हुए। स्थितियां पलक झपकते ही बदलीं। फ्रांसिसी काल्पनिक फिल्म निर्माता जार्ज मेलिस के समान फाल्के ने फिल्म की सारी क्षमताओं को समझा। भारतीय फिल्म उद्योग का फिल्म बनाने के इस स्वप्न का श्रीगणेश उनसे ही हुआ।

मैंने दादा साहिब फाल्के के बारे में काफी कुछ कहा है और क्योंकि उनकी जन्म शताब्दी पर हमने उन्हें अपनी श्रद्धांजली अर्पित की है और यह भी कि उन्होंने पचास साल पहले जो नमूना (पैटर्न) अपनाया था उसका प्रभाव हमारी फिल्मों में काफी दिनों तक बना रहा। तब से कुछ समय पूर्व तक हमारी फिल्मों में पौराणिक, काल्पनिक और पुरातन गाथाओं की प्रधानता रही। यह गाथाएं युवकों और वृद्धों, अमीरों तथा मध्यम

compiled and created by Bhartesh Mishra

वर्ग और निम्न समाज में और बहु-संख्यक समाज में प्रचलित थी। यहां तक कि अल्प संख्यक संप्रदाय के लोग भी स्वयं उन गाथाओं, पात्रों और स्थितियों को समझ सके थे। अद्भुत घटनाएं, अण्व्यवी मंचसज्जा, काल्पनिक वेषभूषाएं, स्टाइल-युक्त अभिनय और दृष्टि भरमाने वाली चालें भारतीय फिल्मों का अभिन्न अंग बनी रहीं। भारतीय रस-सिद्धांत विशेष रूप से नाट्य सिद्धांत इन फिल्मों में भी काम कर रहा था। साहित्य के नौ रसों या भावों का निरूपण इन फिल्मों के द्वारा भी किया जाता था और इसीलिए इनमें जनता ने आंसू बहाए, वह हंसी और उसने आश्चर्य भी प्रकट किया। वे भयभीत भी हुए और नायक वीरोचित कार्यों से उत्तेजित भी। जब तक कि उन्हें शान्ति न मिले उनमें दया की भावना भी जागृत की जाए। इन सभी फिल्मों में नौ रसों को (शृंगार, वीर, हास्य, रौद्र, भय, वीभत्स, शांत, अद्भुत, करुणा) को सही रूप से और सतर्कता से नहीं दिखाया गया है हालांकि उनमें से अधिकांश फिल्मों में इस बात का प्रयत्न किया गया है इनमें अधिक से अधिक रसों की अनुभूति कराई जाए।

मारधाड़ की फिल्में

इस मूक युग में फिल्मों की इन विधाओं के अलावा अन्य विधाएं भी उभरने लगीं थी। पौराणिक, अनुश्रुत कथाएं या तो समाप्त होने लगीं थीं अथवा बार बार दोहरायी जाने लगीं थीं। द्रुतगामी अमरीकी और अंग्रेजी "अभिनय" या मार-धाड़ वाली फिल्मों से, जिनको भारत में पनपने का अवसर मिला था और जिन्होंने जनसमुदाय को आकर्षित किया था, फिल्म निर्माताओं, अभिनेताओं और कैमरामैनों को प्रेरणा मिली। उन्होंने निर्लज्जता से काफी अर्से तक विदेशी वृत्तान्तों की नकल की। कुमारी एरमेलीन प्रसिद्ध "पैरिल्स आफ पालैन" शृंखला पर्ल व्हाइट की भारतीय प्रतिमूर्ति थी (काफी अर्से बाद (नाडिया) मारधाड़ फिल्मों की रानी (स्टंट क्वीन) बनकर आई। उन दिनों में नंदराम पहलवान और राजा सेन्डो जैसे बलिष्ठ पुरुष विख्यात थे और मास्टर विट्ठल, किली-मोरिया बंधु, गुल हमीद, जालमर्चेंट और जाल खम्बात्ता जैसे, लम्बे, गोरे और सुन्दर व्यक्ति थे। उन्होंने जिन नारियों को या तो स्वर्ग में या रुरितानियन मंच सज्जा में उपस्थित किया वे थीं सुलोचना, माधुरी, जुबैदा, जैबुनिसा, रामपियारी, गौहर और पेशैंसकूपर, जैसी मोहक एवं मायावनी नारियां। यह वही काल था जब पृथ्वीराज कपूर, जयराज, ख्यामपाली और अन्य लोगों ने प्रथम बार अभिनय किया था।

मूक युग (1913-31) के प्रारंभिक काल में जे० एफ० मदन बंगाल में फिल्म उद्योग के अधिपति माने जाते थे वे फिल्में बनाकर अपने थियेटरों में उनका वितरण और प्रदर्शन करते थे। बम्बई में अब्दुल अली यूसुफ अली उनकी प्रतिमूर्ति थे। वे महान प्रदर्शन कर्ता भी थे। फाल्के, मदन और कोल्हापुर के श्री बाबूराव पेंटर के बीच उन्होंने त्रिगंगम (Triumvirate) की स्थापना की और उनका प्रभुत्व प्रारंभिक फिल्मों में बना रहा।

यद्यपि मैं यह नहीं चाहता कि इस सर्वेक्षण में अनेक नामों और शीर्षकों को देकर लेख को विस्तार दूं किन्तु उन से कम से कम कुछेक का उल्लेख किए बिना भी नहीं रह सकता। एक बात ध्यान देने की है कि अनेक सम्प्रदाय के लोगों ने फिल्म उद्योग का निर्माण किया। इस बीसवीं शताब्दी की इस आधु-निक कला में विभिन्न धर्मों में विश्वास रखने वाले लोग अपने को यथास्थान बिठाते हुए साथ-साथ शामिल हुए और उन्होंने इस कला को विकसित किया। आज भी मुसलमान और ईसाई जैसे अल्पसंख्यक समुदाय के लोग भी फिल्म उद्योग को बनाए रखने में महत्वपूर्ण योग दे रहे हैं।

सप्रयोजन सामाजिक फिल्में :

भारतीय फिल्मों के मूक युग में अन्य दो बातें विकसित हुई हैं—उद्योग का नियमित विस्तार और व्यापक विश्लेषण तथा सप्रयोजन सामाजिक फिल्मों का निर्माण। आर्थिक तत्वों ने इस बात के लिए उद्योग को बाध्य कर दिया था कि उसका प्रसार हो। कलकत्ता और बम्बई सदा के लिए फिल्म निर्माण के केन्द्र नहीं बने रह सके। आगे चलकर कोल्हापुर, पूना और मद्रास के नाम भी इस सूची में जुड़ गए। कुछ विशिष्ट व्यक्ति अपनी कल्पना और सामाजिक विवेक के लिए धन्यवाद के पात्र हैं जिनकी सप्रयोजन फिल्मों में पौराणिक कथाओं और मारधाड़ वाली फिल्मों में चल रही प्रवृत्ति धीरे-धीरे कम हो गई थी। मदन थियेटर्स ने बंकिमचन्द्र चटर्जी के "कपाल कुण्डला", "कृष्णकान्ता की वसीयत" जैसे उपन्यासों में से फिल्में बना सकने की क्षमता की खोज की। नवल घंडी को टैगोर के उपन्यास "त्याग" में से फिल्म तैयार करने की प्रेरणा प्राप्त हुई। मोहन भवनानी ने संस्कृत के गौरव ग्रन्थ "मृच्छकटिक" का सामान्य रूपान्तर किया और वसन्त सेना नाम फिल्म बनाई जिसमें एसाक्षीराम राव और कमला देवी चट्टोपाध्याय का समाज की प्रतिष्ठित महिलाओं के रूप में चित्रण किया गया है। पंजाबी लोक कथा "हीर रांझा" पर भी फिल्म बनाई गई थी। शान्तारम ने "उदयकाल" फिल्म तैयार की जिसमें उन्होंने शिवाजी का महत्वपूर्ण पार्ट अदा किया था। आर० एस० चौधरी की "दि रैथ" (The Wrath) पर राष्ट्रीय भावनाओं से ओतप्रोत होने के कारण प्रतिबन्ध लगा दिया गया था (क्योंकि इसमें एक अभिनेता ने महात्मा गांधी का अभिनय किया था) और साम्प्रदायिक सामंजस्य विकसित करने के लिए राम-रहीम फिल्म बनाई गई थी।

आलम आरा : सवाक-चित्र

भारतीय फिल्मों में इसके पश्चात् जो दूसरा चमत्कार आया वह यह था कि 14 मार्च, 1931 को इम्पीरियल फिल्म्स निर्माता अरदेशिर इरानी ने प्रथम भारतीय सवाक चित्र "आलम आरा" प्रस्तुत किया। इस फिल्म को सजीव शत-प्रतिशत बोलने वाली फिल्म बताया गया और इन फिल्मों में अब भारतीयता झलकती थी। फाल्के के समान अरदेशिर इरानी अपने क्षेत्र में दूसरे प्रवर्तक थे जिन्होंने पाक चित्र वाली फिल्म आविर्भूत की थी। जिस समय से अरदेशिर ने दो वर्ष पूर्व यूनिवर्सल की "मैलोडी आफ लव" (Melody of Love) देखी और सुनी तब से ही उन्हें बोलने वाली फिल्म बनाने की धुन सवार हो गई थी। इसी प्रकार उन्होंने ध्वनि रिकार्ड करने की तानार प्रणाली

compiled and created by Bhartesh Mishra

की योग्यता प्राप्त की और इस फिल्म को तैयार किया जिसमें जुबैदा, मास्टर विट्ठल, पृथ्वीराज और जगदीश सेठी को सिनेमा के परदे पर दिखाया गया था। यह फिल्म इतनी अधिक प्रसिद्ध हुई कि भीड़ पर नियन्त्रण पाने के लिए पुलिस बुलाई गई। सात वर्ष बाद अरदेशिर इरानी ने भारत की प्रथम रंगीन फिल्म "किसान कन्या" प्रस्तुत की जिसने उसके नाम में चार चांद लगा दिए।

सन् 1931 में उस दिन से ध्वनि व्यवधान समाप्त हुआ और प्रादेशिक भाषाओं में भी फिल्में बनने प्रारम्भ हो गई। आलम आरा के बाद मदन थियेटर द्वारा शीरीं फरिहाद और जमामष्ठी बंगला की प्रथम सवाक फिल्म तैयार की गई। एच० एम० रेड्डी ने तामिल की प्रथम सवाक फिल्म "कालिदास" तैयार की और उनके पश्चात तेलगू की प्रथम सवाक फिल्म "भक्त प्रल्हाद" बनाई गई। ए० नारायणन ने अपनी पत्नी की ध्वनि लेखकार के रूप में सहायता लेकर मद्रास में प्रथम तमिल सवाक फिल्म बनाने का निर्णय किया (रेड्डी की पहली सवाक फिल्म बम्बई में तैयार की गई थी)। उसी वर्ष सन् 1934 में प्रथम कन्नड़ फिल्म "ध्रुव कुमार" प्रदर्शित की गई। "अयोध्या के राजा" मराठी की प्रथम फिल्म थी जिसमें दुर्गा खोटे को सिनेमा के परदे पर दिखाया गया था और "नरसी मेहता" प्रथम गुजराती सवाक फिल्म थी।

गीत :

सवाक फिल्में अपना स्थान जमाने लगी थीं और अवाक फिल्म जाने के लिए द्वार पर खड़ी थी। सन् 1931 में 300 अवाक फिल्में और 28 सवाक फिल्में तैयार की गई। चार वर्ष बाद सवाक फिल्मों की संख्या तो बढ़कर 233 तक पहुंच गई और अवाक फिल्मों की संख्या कम होते-होते केवल सात तक रह गई थी। इससे अब यह बात स्पष्ट थी कि अवाक फिल्मों का जमाना लद चुका है। कारण यह है कि अब सिलुलायड (Celluloid) में ध्वनि जोड़ी गई थी तो फिल्म क्षेत्र में एक नया माप जोड़ा गया था। इस प्रकार भारतीय फिल्मों में भारत की प्राचीन परम्परा का समावेश किया गया। गीत जो हमारे देश में जन्म और मृत्यु, ऋतु और त्योहार, प्रेम और विवाह सभी के साथ जुड़ा हुआ है अब भारतीय फिल्म का महत्वपूर्ण अंग बन चुका था। हमारे नाटकों की संगीत परम्परा को पुनः चेतना मिल गई थी। हमारी फिल्में जो रंगमंचीय नाटकों पर आधारित थीं अब गानों से ओतप्रोत थीं (मदन थियेटर की "इन्द्र सभा" में 59 गाने थे)। अवाक फिल्मों में नृत्यों की क्रमबद्धता जो तब तक एक दृश्यगत आकर्षण थी अब संगीत और नृत्य का समावेश हो जाने से अधिक महत्वपूर्ण बन गई थी। हमारे नाटकों की संगीत परम्परा को पुनः चेतना मिली। संगीत और नृत्य के दृश्य भारतीय फिल्मों के राष्ट्रीय गुण बन चुके थे।

स्वर्ण-युग

1932 और 40 की छोटी-सी अवधि एक ऐसी अवधि थी जिसे हम भारतीय फिल्मों का स्वर्णिम युग कह सकते हैं। न्यू थियेटर्स, प्रभात, चंदूलाल की रंजीत फिल्मस, वी० एल० खेमका की ईस्ट इंडिया फिल्म, हिमांशु राय की बम्बई टाकीज और अन्य फिल्म निर्माता कंपनियों ने कुछ उत्कृष्ट फिल्में प्रस्तुत कीं (यहां पर यह पुनः याद दिलाया जा सकता है कि हिमांशु राय इससे पूर्व विदेशी सहयोग से "लाइट आफ एशिया" और 'कर्म' तैयार करके भारतीय फिल्मों के लिए अंतर्राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त कर चुके थे)।

इस स्वर्णिम युग में न्यू थियेटर्स ने पूरण भक्त, चंडीदास, देवदास विद्यापति, मुक्ति, प्रेसिडेंट और कपाल कुण्डला जैसी अविस्मरणीय फिल्में तैयार कीं। इन फिल्मों के माध्यम से पी० सी० बरुआ (एक राजकुमार जो बाद में फिल्म निर्माता और अभिनेता बना) देविका बोस और नितिन बोस निदशक के रूप में उभर कर सामने आये जो कि फिल्म माध्यम को समझते थे। अद्भुत प्रतिभा और गीतों के कारण के० एल० सहगल, के० सी० डे, और पहाड़ी सान्याल जैसे अभिनेता के नामों की चर्चा घर-घर में होने लगी। जमुना, कानन देवी, कमलेश कुमारी और मोलिना देवी जनता में बहुत लोकप्रिय हो गई थी। जनता के लिए वे अब नये नहीं रहे थे।

शांतारांम, फतहुलाल और दामले के निर्देशन में "प्रभात" ने अमृतमथन, अमर ज्योति, धर्मात्मा संत तुकाराम, आदमी और पड़ौसी, दुनिया ना माने जैसी स्मरणीय फिल्में तैयार कीं। इन फिल्मों में निर्देशन दक्षता और सामाजिक संतोष उनकी अपनी विशेषता थी। मास्टर विनायक, चंद्र मोहन, दुर्गाखोटे, शांताआप्टे और जागीरदार आदि कुछ व्यक्ति नाट्यकला के महान व्याख्याता थे।

ईस्ट इंडिया कंपनी ने सीता और मिलाप फिल्में प्रस्तुत कीं। भारतीय चित्रपट की प्रथम महिला देविका रानी और अशोक कुमार बम्बई टाकीज के प्रसिद्ध जोड़े बने जिन्होंने अछूत कन्या और नया संसार जैसी फिल्में प्रस्तुत कीं। रंजीत ने गुण सुन्दरी और सेक्रेटरी फिल्में बना कर दीं। सोहराब मोदी ने "पुकार" नामक फिल्म बनाई और केदार शर्मा ने चित्र लेखा से ख्याति प्राप्त की। कारदार ने बागी सिपाही फिल्म बनाई और महबूब ने औरत। यहां तक कि मुन्शी प्रेमचन्द अपनी मिल नामक कहानी लेकर, जो कि मजदूर और हड़ताल से सम्बन्धित थी, फिल्मों में बहक गए। बिहार के भूकंप ने 'भूकंप (After the Earthquake) "आफटर दि अर्थक्वेक" फिल्म के लिए विषय वस्तु प्रदान की।

दक्षिण की फिल्में

दक्षिण में पतीनादर और नदनार जैसे महात्माओं और सुधारकों के जीवन पर धार्मिक कहानियां प्रचलित थीं। एक अविस्मरणीय तेलगू फिल्म महात्मा त्याग-राज पर बनाई गई थी। "जलज" जैसी नृत्य फिल्में, "टू ब्रदर्स" और सती लीलावती जैसी सामाजिक फिल्में और अपूर्व सफलता प्राप्त चिंतामणि और अम्बिकापति (ये दो फिल्में कुछेक सिनेमा घरों में लगातार एक वर्ष से अधिक दिखाई गई थी) नामक फिल्में आसानी से नहीं भुलाई जा सकतीं। एम० के० त्याग-राज, भानवतर, टी० पी० राजलक्ष्मी, एन० एस० कृष्णन और टी० ए० मदुरम् (पति पत्नी की सुखांत फिल्म), कन्हम्मा, एस० डी० सुबालक्ष्मी (सेवा सदन और शकुन्तला में) और नलिया उस समय के सर्वोत्कृष्ट प्रसिद्ध कलाकार थे। दक्षिण के फिल्म उद्योग को बंगला और बम्बई फिल्म उद्योग के समकक्ष लाने के लिए के० सुब्रामानियम, एच० एम० रेड्डी, सी० पुन्नीया और कुछ एक अन्य कलाकारों ने बहुत अधिक प्रयत्न किए किन्तु दक्षिण भारत के संपादक और प्रशासक एस० एस० वासन के फिल्म निर्माण क्षेत्र में आने के बाद प्रदर्शित साज सज्जा द्वारा व्यापक रूप से मान्यता मिली। उन्होंने चन्द्र लेखा में हिन्दी फिल्मों पर दक्षिण की श्रेष्टता दिखाने के लिए एक विचार धारा को जन्म दिया। वासन, ए० डी० मय्यप्पन, प्रसाद और अन्य लोगों ने दक्षिण में द्विभाषी

compiled and created by Bhartesh Mishra

देविका रानी

प्रथम दादा साहेब फाल्के पुरस्कार-विजेता

compiled and created by Bhartesh Mishra

रूपान्तरण (Two language version) और हिन्दी फिल्म बनाने में विशेष दक्षता प्राप्त की।

द्वितीय महायुद्ध से भारतीय फिल्म उद्योग में कच्ची फिल्मों और फिल्मों की लम्बाई पर प्रतिबन्ध लगने से बड़ा प्रतिकूल प्रभाव पड़ा। फिल्म उद्योग में अन्य क्षेत्र से उन लोगों के आने से जो कला की अपेक्षा पैसे को अधिक महत्व देते थे, फिल्म निर्माण में परिवर्तन हुए। युद्ध काल से यही लाभ हुआ कि ब्रिटिश शासकों द्वारा शिक्षाप्रद फिल्में बनती प्रारम्भ हो गयी थीं और तब से इन फिल्मों का लगातार निर्माण होता चला आ रहा है।

युद्धोत्तर काल

युद्ध समाप्त होने और स्वतन्त्रता प्राप्त होने के पश्चात् भारतीय सिनेमा के इतिहास में एक नया अध्याय प्रारम्भ हुआ। विमल राय की हम राही और दो बीघा जमीन, जागीरदार की रामशास्त्री, के० ए० अब्बास की धरती के लाल (आई०पी०टी०ए० के तत्वावधान में निर्मित) उदयशंकर की कल्पना और चेतन आनन्द की नीचा नगर कुछेक उत्कृष्ट प्रकार की फिल्में थीं। सोहराब मोदी की झांसी की रानी और राजकपूर की आवारा, अब्बास की मुन्ना इत्यादि फिल्मों में एक नयी प्रवृत्ति देखने को मिलती है। अपूर्व सफलता प्राप्त फिल्में महबूब की मदर-इंडिया, शांताराम की झनक-झनक पायल बाजे और के० आसिफ की मुगले आजम से फिल्म क्षेत्र में दूसरी प्रवृत्ति दिखाई देती है। उनकी तुलना में ऋषिकेश मुखर्जी की अनुराधा, गुरुदत्त की साहब बीवी और गुलाम, वी० आर० चोपड़ा की धर्म-पुत्र, कृष्ण चोपड़ा की हीरा मोती और शांताराम की दो आखें बारह हाथ उल्लेखनीय है।

नई लीक

किन्तु भारतीय सिनेमा के पिछले पचास वर्षों में जो आश्चर्य-जनक बात हुई थी वह थी सत्यजित रे का पदार्पण। उस असाधारण योग्यता रखने वाले कलाकार और व्यापक रुचि रखने वाले विद्वान ने भारतीय फिल्म में एक नई हलचल प्रस्तुत की। उनकी फिल्मों से विश्व की फिल्म बनाने वाले देशों में भारत को स्थान प्राप्त हो गया जिसमें पाथेर पांचाली, अपराजित और आपुर संसार विचारों में इतनी भरपूर थी और उसकी विधा इतनी नूतन थी कि सिनेमा जगत को एक अपूर्व देन के रूप में उसे अपूर्व सफलता मिली। पिछले 14 वर्षों में सत्यजित रे ने राष्ट्रीय पुरस्कारों और पदकों के अलावा संसार के विपद फिल्म समारोहों में लगभग एक दर्जन पुरस्कार प्राप्त किए।

फिल्म आचार्यों के अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन में सिनेमा के इतिहास में आइस्टीन, पुडोवकिन, चैकलिन, ओमिन वेल्स और अन्य महान फलाकारों के साथ 20 प्रसिद्ध फिल्म निर्देशकों में से एक के रूप में उनका स्वागत किया गया। अपु त्रियोलोजी में और चारुलता और महानगर जैसी अन्य फिल्मों में उनकी अपनी शैली इतनी स्पष्ट है और उस शैली से इतनी भिन्न है, जो भारतीय विशिष्ट फिल्म के रूप में विख्यात हुई थी, कि उस पर एक पूरा शोध प्रबन्ध लिखा जा सकता है। सत्यजित रे केवल बंगला फिल्म-निर्माता हैं और उन्होंने हिन्दी में फिल्म बनाने से बार-बार इन्कार किया है। वह इतने उच्चकोटि के विशेषज्ञ हैं कि उनका अनुकरण आसानी से नहीं किया जा सकता, किन्तु उनके फिल्म में आने से अन्य फिल्म निर्माताओं के पास उत्तम अवसर और उन्हें अधिक स्वतन्त्रता थी और उन्हें संरक्षता प्राप्त करना आसान था। इस प्रकार रित्विक घटक और मृणाल सेन अपना व्यक्तिगत योगदान दे सके थे क्योंकि सत्यजित रे ने उनका मार्ग प्रशस्त कर दिया था। बम्बई में भी यदि कांति लाल राठौर काकू नामक फिल्म बना सकता है और बासु चटर्जी को 'सारा आकाश' के लिए सुविधाएं सुलभ हुई हैं तो यह आंशिक रूप से उस प्रवृत्ति के कारण जिसका सूत्रपात सत्यजित रे ने किया था और कुछ अंश में फिल्म संस्था के आन्दोलन भी जो रुचियों का परिमार्जन करने और सिनेमा जगत की समकालीन भाषा देश में लाने के लिए उत्तरदायी रहा। रे का मुख्य योगदान यह रहा था कि कोई भी व्यक्ति सिनेमा सितारों, कालाबाजार की विधियों, संगीत और नृत्य के दृश्यों, विदेशी वातावरण, पार्श्व गायकों और बहुमूल्य साज-सज्जा के बिना ही पूर्णतः भारतीय फिल्म बना सकता है।

आज भारतीय फिल्म उद्योग की स्थिति विषाद मय है। प्रौढ़ और पुरानी पीढ़ी के सिनेमा सितारे, जो आयकर देने से इंकार करते हैं और प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रूप से बड़ी रकमों की मांग करते हैं, अभी भी उनका प्रभुत्व छाया हुआ है। संगीत निर्देशक जो भारतीय और विदेशी संगीत का अपवित्र तरीके से अनुकरण करते हैं और बेतुकी कहानियां, अविश्वसनीय घटना क्रम (Twists) और प्रवृत्तियों से आज की फिल्में बच कर नहीं जा सकतीं। मंहगी फिल्में विफल हो जाती हैं। सभी प्रकार के अद्यतन उपस्कर और तकनीकी गिमिकरी हिन्दी और तमिल फिल्मों को उस दलदल से नहीं बचा सके जिसमें वे निमग्न हो चुकी हैं। उससे बचने की आशा कम बजट रखने और मृणाल सेन, वसुभट्टाचार्य और अन्य निर्माताओं द्वारा फिल्म वित्त निगम से ऋण लेकर तैयार की गई फिल्मों को दोहराने, सुखदेव की शिक्षाप्रद फिल्मों और के० अब्बास जैसे अकेले निर्माताओं की फिल्मों में ही दिखाई देती है।

भारतीय फिल्मों के इतिहास में एक नया अध्याय प्रारम्भ होने वाला है। हम केवल यह प्रतीक्षा कर सकते हैं और इतना देख सकते हैं कि किस प्रकार यह तत्व शामिल होते हैं और गतिशील होते हैं। क्या भारतीय फिल्म उद्योग अपने पिछले अनुभव से इसे नियमित कर सकेगा और उसमें सुधार ला सकेगा? या यह चलकर समाप्त हो जाएगा या देश के हित में राष्ट्रीयकरण इसे बचा सकेगा?

रूपान्तर : रामचन्द्र मिश्र

compiled and created by Bhartesh Mishra

भारत में सिनेमा

फाल्के शताब्दी वर्ष

1970 भारतीय फिल्म उद्योग के प्रथम दो सहप्रवर्त्तकों में से एक दादा साहब फाल्के का शताब्दी वर्ष है। फाल्के साहब हमारे पहले चलचित्र कैमरा मैन थे। वे हमारे प्रथम चलचित्र निदेशक और चलचित्र प्रक्रमण तकनीकी भी थे। उन्होंने अपना ही साज सामान बनाया, उससे काम किया और उसमें दक्षता प्राप्त की। अतः सिनेमेटोग्राफी की तकनीक की हमारी प्रगति की इस समीक्षा में यह बहुत ही सामयिक होगा कि हम इस बात को स्मरण करें कि फाल्के द्वारा एक छोटे से कोने में लगाए गए आधार पत्थर के ऊपर किस प्रकार साढ़े पांच दशकों के समय में एक वास्तविक विशाल भवन खड़ा हो गया है और इससे भी महत्वपूर्ण बात यह है कि दो पीढ़ियों के लाखों लोगों को इससे रचनात्मक रोजगार मिला है।

1913 में भारत में उस समय रजतपट कहे जाने वाले चित्रपट पर पहला भारतीय चित्र प्रकट हुआ और यह इतिहास में एक काफी पुरानी बात है। यद्यपि प्रारंभिक फिल्में कुछ अपरिष्कृत होती थीं और आज की दक्ष प्रस्तुतीकरण विधियों की उनमें कमी थी तो भी प्रवर्त्तकों ने वास्तव में श्लाघनीय कार्य किया था। पहले दो फिल्म निर्माता बड़े प्रतिभावान थे और फोटोग्राफी से लेकर सिनेमेटोग्राफी तक स्नातक उपाधि प्राप्त थे। नासिक के दादा साहिब फाल्के पहले फोटोग्राफर थे और तत्पश्चात् कैमरामैन-निदेशक बने। उनके सह प्रवर्त्तक हैदराबाद के धीरेन गांगुली भी फोटोग्राफी में रुचि रखते थे और बाद में चलचित्रों में आए।

अनुभव यह बताता है कि कैमरा का सूक्ष्म ज्ञान अपरिहार्यतः सफल निदेशन से संबद्ध है। फाल्के को कैमरा कौशल का अच्छा ज्ञान था वस्तुतः उन्होंने स्वयं को भली भांति शिक्षित किया था वह प्रायः प्रयोग किया करते थे और तत्काल तैयारी करते थे उन्होंने समय व्यवधान फोटो चित्रों (टाईम लैप्स फोटोग्राफ) की प्राप्ति के लिए कैमरा की प्रक्रिया को अनुकूल बनाया और भारत में प्रथम सजीव चल फिल्म बनाई।

पर्दे पर मिन्टों में ही पौधे पर पुष्प खिल गए और दर्शक आश्चर्य चकित देखते रह गए। बाद में जर्मनी में यू० एफ० ए० ने और इंगलैंड में गोमॉट ब्रिटिश ने उसी आधारभूत तकनीक का प्रयोग करके ऐसे बहुत से टाईम लैप्स फोटोग्राफ चलचित्र बनाए। भारत में पिछले वर्ष के दौरान खांडपुर द्वारा निर्मित फिल्म डिवीजन की लाईफ (जीवन) का पूर्ण चक्र सामने आया।

इंगलैंड में जब फाल्के की सावित्री और भस्मासुर मोहिनी दिखाई गई तो वह लोगों को बहुत पसंद आई। हिमांशु राय की लाईट आफ एशिया और बहुत बाद में प्रभात का संत तुकाराम भी जब योग्य से दिखाए गए तो उससे लोग बहुत प्रभावित हुए। निस्संदेह प्रत्येक में जो अनिवार्य गुण था वह बहुत हद तक उनके उत्तम सिनेमा चित्रण के कारण ही था, संत तुकाराम में भाषा की बाधा की कुछ महत्व नहीं था क्योंकि चित्रों के प्रदर्शन में ही उनका अर्थ बड़े शक्तिशाली ढंग से निहित था।

तब से इस देश में चलचित्र उद्योग ने दिन दुगनी और रात

compiled and created by Bhartesh Mishra

और सिनेमेटोग्राफी

नील गोखले

चौगुनी उन्नति की है। जहां तक परिमाण का संबंध है बहुत समय से हम अमरीका और जापान के साथ शिखर पर हैं। प्रतिवर्ष हम सैकड़ों अच्छी बुरी उदासीन फिल्में बनाते हैं लेकिन अधिकांशतः यह साधारण दर्जे की होती है। न्यू थियेटर्स और प्रभात उच्च कोटि के फिल्म निर्माता थे लेकिन किन्हीं कारणों से उनका काम बन्द हो गया।

प्रथम बोलती फिल्म

1931 भारतीय फिल्म जगत के लिए एक दूसरा महत्वपूर्ण वर्ष था। भारत की प्रथम बोलती फिल्म आलमआरा के विमोचन के साथ ध्वनि आरंभ हुई। जबकि कैमरा से कहानी और विषय दृष्टि-गोचर होते थे वहां अब संपूर्ण आनंद ध्वनि से और बढ़ गया। स्वांग अभिनेता का स्थान अंशतः बोलते चरित्रों ने ले लिया था। संगीत और ध्वनि के प्रभाव को उच्च शिखर पर पहुंचा दिया। यह समझा जाता है कि इसने कैमरा कौशल से कुछ छीन लिया है। इतना ही नहीं चैपलिन और फ्रैंक कैफरा ने तो एक अवस्था में यह निर्णय लिया कि वे किसी भी ध्वनि फिल्म निर्माण में भाग नहीं लेंगे। इससे पूर्व कि हमारे तकनीकी और पट लेखक यह समझ पाते कि सिनेमा का क्या अर्थ है और इसकी अपेक्षा कैमरा क्या कुछ कर सकता है, मूक चित्रों का जमाना समाप्त हो गया। ऐसी फिल्मों की बाढ़ आ गई जिनमें बोलने ही बोलने की चेष्टा थी। संगीत आया जिसने संगीत मंडलियों से होड़ ली। अलौकिक तस्वीरें आईं जिनमें अजीबोगरीब ध्वनि प्रभाव की अधिक मात्रा थी। पौराणिक कथाएं जैसा कि मूक फिल्मों में था, भारतीय दर्शकों को सदा की भांति अच्छी लगती रहीं। वेशभूषा मूक की साहसिक रूमानी और स्टंट चित्रों का निर्माण में मुख्य भाग रहा।

इसके बाद अगले कुछ दशकों में ध्वनि की चुनौती का कोई जवाब न था। यदा कदा कुछ एक बढ़िया चित्रों के सिवाय और कुछ नहीं हुआ। बाम्बे टाकीज कुछ दिन चमकी। कभी-कभी शान्ता राम, महबूब खां, वडुआ, देवकी बोस ने अपनी चमक दिखाई।

सन् 1940 के दशक में और सन् 1950 के दशक में और अधिक स्पष्टतः कुछ ऐसे आदर्शवादी फिल्म निर्माता सामने आए जिन्होंने सामाजिक बुराइयों और सभी प्रकार के अन्याय के खिलाफ जनता की चेतना को जागृत किया। इनमें से कुछ ये हैं, के० ए० अब्बास, बिमलराय, चोपड़ा, गुरुदत्त, ऋषिकेश मुकर्जी, बहल, चेतन आनंद, हेमन गुप्ता, दत्ता, धर्माधिकारी, कार्तिक चटर्जी। कुछ महारथी आज भी सदा की भांति यहां सक्रिय हैं। जो फिल्में उन्होंने बनाई वे हमेशा अतिउत्तम नहीं थीं किन्तु उनमें विविधता रही।

इसी समय के लगभग दक्षिण से वासन ने वही कुछ किया, जो हालीवुड में सिसिल डिमिल कर रहा था, अर्थात् फिल्म उद्योग को "निर्माणोन्मुख" बनाया। बाद में राजकपूर और बहुत से अन्य लोगों ने भी ऐसा ही किया और वे अच्छे रहे। खर्चीलीय फीस पर काल्पनिक सितारे, मूल्यवान सैट, खर्चीली वेशभूषा, कैमरा कौशल हो या न हो किन्तु और बहुत कुछ। दिन की मूर्तियां लुभावन इत्यादि

compiled and created by Bhartesh Mishra

से बाक्स आफिस भरपूर धन सुनिश्चित किया जाता था। इस समय के लगभग चलचित्र क्षेत्रों में गुप्त धन की भी रिपोर्ट मिली थी।

भारत में रंगीन चलचित्रों का आगमन

भारत में रंगीन चलचित्रों का आगमन द्वितीय विश्वयुद्ध से पहले हो गया था यद्यपि यह वास्तविक रूप में 1952 के बाद ही हुआ। निस्संदेह रंग ने बाक्स आफिस धन के जादुई घटक को बढ़ा दिया (यह सूत्र अब भी अधिक है) शुरू-शुरू में फिल्म निर्माताओं ने यह सोचा कि रंगीन चित्र का अर्थ यह है कि सभी वस्तुएं जिनको फिल्माया जाता है रंगीन होनी चाहिए। यह विचारधारा इतनी अधिक प्रचलित हुई है कि प्रत्येक नई रंगीन फिल्म रंग पेंट उद्योग का एक और इश्तहार बन जाती है जैसी कि हम व्यंग्योक्ति करने लगे कि जैन्सन निकलसन कंपनी। कुछ ने नवरंग और झनक-झनक पायल बाजे को पसंद किया। यह चलचित्र देखने योग्य है, यदि केवल यह देखना हो कि बेहतर सभी चीजों के अलावा रंग का आधिक्य कितना सुहावना और मनमोहक प्रभाव डाल सकता है। यह विचार कि रंगों के अंतर्गत सफेद और काला भी मुख्यतः सम्मिलित है, बिल्कुल प्रतिकूल लगता था। रंग का उचित प्रयोग भावनात्मक विषय वस्तु को ऊंचा उठाने और जिसे काली और सफेद फिल्म प्रदर्शित न कर सके उसको प्रदर्शित करना बिल्कुल भुला दिया गया था।

टैक्नी कलर, ईस्टमैन कलर, गेवा कलर, 70 एम एम सिनेमा स्कोप जूम लैन्स, कैमरा क्रेन डोली जो तकनीकी प्रगति की उपज है समय के साथ-साथ यहां भी पहुंच गए। परंतु इनमें से प्रत्येक ने निदेशक, कैमरा मैन और पटकथा लेखक के काम को जटिल बना दिया। पटकथा लेखक का काम इसलिए जटिल हो गया कि वह उस सही वातावरण की कल्पना नहीं कर सकता था, जिसमें नए गेजिट का ठीक-ठीक स्थान हो।

ऐतिहासिक पृष्ठभूमि कुछ भी हो उसे विस्तृत और व्यापक बनाना जिससे कि वह जादुई बाक्स आफिस फारमूला चलचित्र और अन्य चमक-दमक युक्त हो जाए, यह कहना गलत नहीं होगा कि सिनेमेटोग्राफी की कला भारत में अब बेहूदा रुचि के किनारे पहुंच गई है। हमारी यह डींग कि हम सिनेमा क्या है इसको समझते हैं एक खोखलापन है।

संसार में और जगह नए तजुर्बे लगातार किए जा रहे थे 'चमक दमक' के साथ-साथ नए बाक्स आफिस सूत्रों का विकास हो रहा था। प्रदर्शकों और धन लगाने वाले निर्माताओं की कोई कमी न थी परंतु हम ब्लाक बुकिंग प्रणाली और थियेटर मालिकों के साम्राज्य के एकाधिपत्य में पहुंच चुके थे। उसका अर्थ केवल धन था। सिनेमा उद्योग के बड़े मालिकों की इच्छा के साथ-साथ हम जनता की रुचि को पूरा करने के बहाने से बाक्स आफिस के लिए फिल्म निर्माण करते रहे। यह माल यही था। विषय सभी वयवर्गों के लिए स्वीकार्य हों भले ही मूढ़ हो, यह जनसाधारण के लिए एक छुटकारा भी प्रस्तुत करने वाले होने चाहिए और इस प्रकार प्रेम गाथा संबंधी और सम्मोहक होने चाहिए। इनमें छः या सात गाने होने चाहिए जो अकेले, युगल स्वरों में अथवा वृन्द गान के रूप में होने चाहिए। इसलिए लता या दूसरे पर्दे के पीछे गाने वाले जरूरी है। इनमें कुछ एक नाच होने चाहिए यदि वह यौन संबंधी हों तो अच्छा होता है। कुछ एक बाहर की स्थितियां जैसे शिमला, कुल्लू काश्मीर या ऊटी हों या इससे भी बेहतर है कि लन्दन, रोम, पेरिस या टोकियो हो। वैभव युक्त अन्दरूनी वस्तुएं होनी चाहिए भले ही देहाती कुटिया हो या शहरी महल जैसा घर हो। यह वह फारमूला था जिससे कि सफलता पूर्वक टकसाल में पहुंचने का मार्ग सुनिश्चित हो जाता था। इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं कि पटकथा लेखक, निदेशक और कैमरा मैन के लिए सिवाय इसके कुछ नहीं था कि प्रत्येक शाट में लुभावन और चमत्कार अधिक से अधिक भर कर जोखिम उठाया जाए। बेचारा कैमरा मैन नायक-नायिका की उछल कूदों के पीछे ही हमेशा लगा रहता था और कैमरा कौशल में सिनेमा की कला लाने की कुछ भी स्वतंत्रता न थी। वह निर्माता, धन दाता की रुचि के ही शाट खींचता था। ऐसी मजबूरियों में कैमरा का शीशा मार्मिक दृश्यों को गीतात्मक नहीं बना सकता। जब आधार ही कमजोर हो तो संरचना भी कमजोर होगी। हम स्तर को सुधारने में असफल रहे और हमने इस बात को भी कभी नहीं समझा कि कैमरा क्या कुछ कर सकता था और सिनेमा क्या था।

कैमरा कौशल

इस तर्क की शक्ति को समझने के लिए सिनेमा के सिद्धांत में कुछ उलट-फेर करना लाभदायक है। साधारण अर्थ में सिनेमा-चित्रण कैमरा का कौशल और इसकी स्टूडियो तकनीक है। सिनेमेटोग्राफी सिनेमा की प्रक्रिया का अभिन्न अंग है और सिनेमा चलचित्रों की कला है। पृथक-पृथक फोटोग्राफों के फ्रेमों के टुकड़ों को जिनमें प्रत्येक फ्रेम स्थिर या अस्थिर गति और संघर्षयुक्त होता है, एक पहले से सोचे हुए ढंग में कमबार जोड़ा जाता है और इस प्रकार हम एक संपादित चित्र उपलब्ध करते हैं। ध्वनि को भी उसी प्रकार उसके अनुरूप बना दिया जाता है और इस प्रकार जो चीज हमारे सामने आती है उसे हम फिल्म कहते हैं।

सिनेमा फिल्म निर्माता-निदेशकों की दृष्टि का फिल्म के माध्यम से आत्मपरक परिवर्तन है। सिनेमा का मूल कारण निदेशक के वे "संघर्ष" हैं जिनको वह फोटोग्राफ के फ्रेमों में प्रस्तुत करने का प्रयास करता है। आइसटाइन के अनुसार यह "संघर्ष" कई प्रकार के हो सकते हैं, ग्राफीय निदेशों का संघर्ष, माप्दंड का संघर्ष, आयतनों का संघर्ष, जनसाधारण का संघर्ष, प्रकाश की विविध तीव्रताओं से भरे आयतनों का संघर्ष, गहराइयों का संघर्ष, छोटे शाट, लंबे शाट, ग्राफीय भिन्नता युक्त निदेशों के टुकड़े क्षेत्र में घूमने वाले टुकड़े, अंधेरे के टुकड़े, उजाले के टुकड़े और अंततः किसी एक घटना और उसकी अवधि के संघर्ष।"

निदेशक इस बात को देखता है कि विषय को किस प्रकार रखा जाए और अंतिम रूप से इस विषय को सैल्यूलोइड में परिवर्तित करता है। दूसरे शब्दों में यह कह सकते है कि निदेशक द्वारा फिल्मी चतुर्थ परिमाण समय के आधार पर चलने वाले दो परिमाणीय चित्र प्रेम के माध्यम से बनाया जाता है। इस सृजन में कैमरा एक परमावश्यक भूमिका निभाता है। कैमरा एक अकर्तृक साधन है। यह सब कुछ देखता है और चयन तथा निर्णय के बिना यह उस प्रत्येक चीज को ग्रहण कर लेता है जो उसके सामने आती है। निदेशक को अपने कैमरा मैन के द्वारा प्रत्येक अकेले फ्रेम के लिए कैमरा को सोद्देश्य काम में लाना होता है।

इस प्रकार फिल्म-चित्र लाने में सिनेमा नहीं हो सकता है केवल

compiled and created by Bhartesh Mishra

जब इन फ्रेमों को संपूर्ण शृंखला को जोड़ा जाता है तभी निदेशक द्वारा वांछित मौलिक विषय का बौद्धिक ज्ञान दर्शक को होता है। एक बहुत परिचित उदाहरण वर्णमाला के समान चित्र होगा जो जापान में प्रयोग किए जाने वाले प्रचलित "इडियोग्राम" हैं। प्रत्येक इडियोग्राम एक या अनेक चित्रलिपि प्रस्तुतीकरणों का बना होता है। संपादित फिल्म फ्रेमों की शृंखला बहुत कुछ इडियोग्रामों के समान होती है। यह दोनों विचारों का प्रदर्शन करते हैं और उस पर विचारों को मूर्त रूप देते हैं। इस विषय में सिनेमा चित्रकला और मूर्तिकला की अपेक्षा भाषा के वाचन पक्ष के अधिक निकट आता है, ध्वनियां, रंग और संगीत मौलिक फ्रेम इडियोग्रामों पर अतिरिक्त औपचारिक प्रभाव लाते हैं।

इसलिए यह स्पष्ट है कि जब कैमरामैन और निदेशक कैमरा को अच्छी तरह समझते हैं तो चित्र फ्रेम में निश्चयात्मक वास्तविकता का जन्म होता है। तकनीक की जितनी अधिक जानकारी होगी उतनी ही अधिक फिल्म की गीतात्मक कोटि अच्छी होगी। फिल्म का अंतिम शाट डिवीजन कैमरा में शुरू होता है। संपादक उसको ही जोड़ सकता है जो कैमरा के द्वारा शाट किया गया हो और इस प्रकार वह पृथक फ्रेम, लय और गति का स्थानिक संबंध बताता है किन्तु जो आधारीय रूप से खराब सिनेमा चित्रण है, उसे संपादन मेज पर अति उत्तम उपलब्ध दिमाग भी सही नहीं कर सकते हैं।

खराब सिनेमेटोग्राफी का अर्थ खराब फोटोग्राफी नहीं है। यह तो इससे दूर की बात है। हर एक अकेला फ्रेम सही फोकस की हुई पूर्ण तस्वीर हो सकता है जो बनावट और प्रकाश के मानकों के अनुसार सही हो किन्तु संपादित किए जाने पर वह अच्छे गुणों से वंचित हो। हम आईंस्टाइन के कथन को फिर से दोहराते हैं "जितने शाट अच्छे होंगे उतनी वह फिल्म बिना जुड़े सुन्दर फ्रेमों के संयोजन, अच्छी किन्तु असंबद्ध चीजों से भरी दूकान की खिड़की और पोस्टकार्ड चित्रों के एलबम के समान होती है।" यह आवश्यक नहीं है कि सभी चित्र तीखे हों, धब्बे धुंधलापन या हल्केपन ये सब अच्छी सिनेमेटोग्राफी कही जा सकती हैं केवल यदि इनका समस्त प्रभाव सिनेमा हो। विश्व की अत्युत्तम फिल्मों के शाट दर शाट विश्लेषण द्वारा बड़े विस्मय-जनक निष्कर्ष निकलते हैं। आज का जीता जागता सिनेमा नई सिनेमेटोग्राफी की क्रांतिकारी साधना है। इसका मुख्य उद्देश्य यह है कि इसका अंतिम फल निश्चयात्मक और वास्तविक होना चाहिए।

सत्यजित : सर्वोत्कृष्ट कैमरा वास्तविकता

भारतीय फिल्म मंच पर वापिस आने के लिए हमने कभी भी गुणात्मकतया कहने के लिए तब तक काम नहीं बनाया था जब तक न्यूयार्क के रास्ते एक सुबह यह खबर आई कि हमारा सत्यजित राय फिल्म निर्माता था और उसकी फिल्में "आपु ट्रियोलोजी" कलात्मक आकार और गीतात्मक आनंद युक्त थीं। उसकी फिल्में इतालियनेस्क भाषा में थीं। फिर भी वे वैसी ही अच्छी लगीं जैसी पहले संत तुकाराम। सर्वोत्कृष्ट कैमरा वास्तविकता मुख्य भागीदार निदेशन और कथा थीं। आकस्मिक रूप से राय कैमरा मैन हैं और उनकी फिल्में साधारण उपस्कर जो स्टूडियो मानकों के अनुसार बहुत कुछ पुराना था, शाट की गई थीं क्योंकि वह अच्छे उपस्कर पाने में असमर्थ था। इससे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि बढ़िया परिणाम पाने के लिए बहुत बढ़िया उपस्कर की अपेक्षा सिनेमेटोग्राफी की तकनीक की निपुणता आवश्यक होती है। हम स्वयं को पूछ सकते हैं कि क्या हम कैमरा, प्रकाश, रिकार्डिंग आदि सभी उपस्कर को वास्तव में अत्युत्तम लाभ पाने के लिए इस्तेमाल करते हैं।

हमारे स्टूडियों में तकनीकियों के पास कभी भी उपस्कर की कमी नहीं रही है। साधारणतया हमारे पास सबसे बढ़िया उपलब्ध उपस्कर हैं। हमारी दिक्कत यदि कोई है तो यह है कि हमने कभी भी वास्तव में उसका इस्तेमाल करना नहीं सीखा है जो हमारे पास है। हमने कभी भी हर मामले में अपेक्षा के अनुसार अपने को ठीक प्रकार से अनुकूल नहीं बनाया है। हम निर्माता के प्रतिनिधि पर इस बात के लिए निर्भर रहते हैं कि वह हमें इसका इस्तेमाल बताये। वह नये गैजिट का आयात करता है। हो सकता है ज़ूमलैन्स हो, स्वचालित विद्युत क्रेन होती हो और हम उसे यह सोच कर खरीद लेते हैं कि नवीनतम गैजिट बढ़िया चित्र बनायेगा। कहां, कब और क्यों कभी भी हमारी उत्कंठा का विषय नहीं रहे हैं। जब कभी कोई एक नये तरीके से किसी चीज के इस्तेमाल करने का साहस करता है तो हम पाठ्य पुस्तकों का हवाला देते हैं, और परम्परा की दुहाई देते हैं। हमें पचास विभिन्न किस्मों की लाइटें बेची गई हैं। हम दिन हो या रात हो केवल इस कारण उनका इस्तेमाल करते हैं कि यह हमारे पास हैं। राय ही वह व्यक्ति था जिसने हर मामले में परम्परा का अनुसरण करने से इन्कार किया। उन्होंने पूछा कि क्यों ? यदि सैट पर खिड़की बाईं ओर से थी उन्होंने अपनी समस्त सोर्स लाईट उसी दिशा से दी और यदि किसी दूसरी जगह प्रकाश स्तर की आवश्यकता हुई तो उन्होंने बाउन्स लाईटिंग इस्तेमाल की। उन्होंने नये तरीके काम में लाये और यहां तक कि पुराने उपस्कर के नये प्रयोग किये। रोम के सिनेमेटोग्राफी परीक्षण संस्थान, ल्यू में, यह एक आम रिवाज है कि वे केवल अत्यावश्यक सिनेमा उपस्कर कैमरा पार्टस और इलैक्ट्रोनिक सहायक सामग्री खरीदते हैं और जैसे उनको आवश्यकता होती है वे इन भागों से अपना उपस्कर तैयार कर लेते हैं। हमारे प्रारम्भिक मार्ग दर्शकों ने अपने ही कैमरे बनाये और नये उपस्करों और सहायक सामग्रियों की तत्काल रचना की। किन्तु इसके बाद की पीढ़ियां उस सामान की गुलाम हो गई जो हालीवुड के विक्रेताओं ने हम पर थोप दिया है और हम जानते हैं कि इसके भयंकर परिणाम निकले हैं। यदि यह कहा जाये कि हम उपस्कर से बंधे हैं तो अतिशयोक्ति न होगी।

दूसरी बात यह है कि हमारे फिल्म पट लेख और निदेशन-अनुभव उपस्कर के किसी नये उपयोग के अनुरूप नहीं है। कैमरे किस प्रकार के होने चाहिये, प्रकाश ऐसा होना चाहिये, इत्यादि। हमारे पट लेख ऐसी अवस्थाएं प्रस्तुत करते हैं, जो जादुई असर और दोनों, (नायक और नायिका) के कैमरा के सामने होने के अधिकतम अवसर बढ़ाती हैं। स्वाभाविकतः कोई भी कल्पनात्मक शूटिंग बाकी नहीं रह जाती है। नायिका पर जादुई प्रकाश होना चाहिये, वह रोती या प्रसन्न मुद्रा में होनी चाहिये तथा वह कष्ट में या आनन्द में होनी चाहिये। ऐसी हालतों में हम वास्तविकता की प्रत्याशा कैसे कर सकते हैं। क्लोज-अप से लान्ग-शाट तक, जूम से पैन तक, कैमरा का अकारण इस्तेमाल किया जाता है जिसका

compiled and created by Bhartesh Mishra

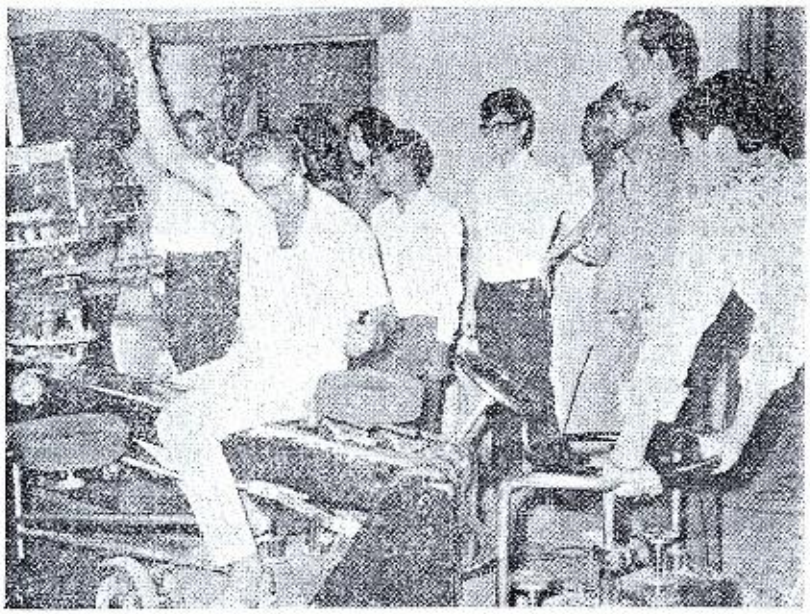

सत्यजित रे विद्यार्थियों का काम देख रहे

मुद्रा और वातावरण का कोई लाभ नहीं होता। एक अनंत अदल-बदल । अगाड़ी-पिछाड़ी चलती है। सब कुछ किस उद्देश्य से होता है कोई नहीं बता सकता। साफ फोकस, तीखी तसवीर, पूरे शरीर पर रोशनी और ध्यानपूर्वक बनाया गया फ्रेम कैमरा मैन के लिए नितांत आवश्यक हैं। राय ने बहुत ही कम ज़ूम लैंस का प्रयोग किया और जब इसे इस्तेमाल किया तो बाद में दर्शकों द्वारा हमेशा याद रखा गया। किसी दृश्य के बाद के लिए गए शाट जिनमें चरित्रनायक किसी गाड़ी जैसे जीप पर चढ़ा हो दिखाए जाते हैं तो आम तौर से कैमरा मैन को अच्छा नहीं समझा जाएगा यदि वे हिलते हुए धुंधले और कभी-कभी धब्बे युक्त हो, क्योंकि परंपरा का ऐसा आग्रह है कि सभी शाट सतत और तीखे होने चाहिए। राय की फिल्मों में ऐसे बहुत से दृश्य हैं और हर मामले में कैमरे से नया दृश्य लिया गया है जो दर्शक को सही दिखाई दें। राय की फिल्मों में वह बहुत कुछ है जिनसे हमारे श्वेत केशीय सैद्धांतिक कैमरा मास्टरों की नींद हराम होती है। राय के सैटों में प्रामाणिकता होती है, जो अद्वितीय होती है। तथा वह पलस्तर के टूटे हुए आखिरी टुकड़े और गांव की झोंपड़ी के अन्दरूनी बिलकुल सफेद भाग तक एक समान होती हैं। हमारे पास बहुत किस्म के लैन्स होते हैं लेकिन हम सीन के मुताबिक उनका चयन बहुत कम करते हैं। हम इनको इसलिए इस्तेमाल करते हैं कि वह हमारे पास है। तदुपरांत फिल्म उस विश्वास और समीकरण में असफल होती है जिसको वह दर्शाना चाहती है। निशीत बैनर्जी एक दूसरे निर्देशक थे जिन्होंने वास्तविक सैटों को इस्तेमाल किया और यथार्थता के अनुरूप कैमरा कौशल को उपयुक्त बनाया। उनके "हैडमास्टर" में यथार्थता कूट-कूट कर भरी है। बंगाल के घटक, हिंदुस्तान सिन्हा और केरल के रामकेरियात ने वास्तव में सिनेमा में अत्यधिक परिज्ञान दिखाया है। और अब मृणालसेन के "भुवन शोम" में हमें कुछ वास्तविक संतोष मिला है तथापि यह साधारण, सुस्त सिनेमा चित्र है।

प्रसंगवश यह बहुत ही संयोग की बात है कि लगभग सभी उत्तम फिल्म प्रतिभा परिधीय क्षेत्रीय भाषा फिल्मों में, अहिंदी भाषा फिल्मों में कुसुमित हुई है इसका क्या कारण हो सकता है। क्या उनको बाक्स आफिस अनिवार्यता के क्रूर शासन की परवाह नहीं है? अथवा क्या उनके पास धन की कमी है? और इसीलिए, क्या केवल सिनेमा की प्रक्रिया पर ही ध्यान दिया गया है न कि फिल्म पूटिंग पर। अथवा क्या उनके दर्शकगण कमोवेश बेहतर फिल्मीय प्रस्तुतीकरण को पसंद करने को उत्सुक हैं? क्या मातृभाषा के मुहावरों और वाक्य रचना का परिचय फिल्म के मुहावरों और वाक्य रचना को अधिक प्रस्फुटित करता है? अथवा क्या गुणी तकनीकी क्षेत्रीय भक्ति के प्रति अपनी सर्वोत्कृष्ट कुशलता प्रदान करना अधिक पसंद करते हैं? यह सब अंशतः सत्य है और ऐसी संभावना भी है।

छोटी फिल्मों के निर्माता

यदि मैं छोटी फिल्मों के निर्माताओं जिल्ज, सुखदेव, बिलीमोरिया राठौर, शास्त्री और बहुत से अन्य के करीब-करीब गीतमय वर्णन द्वारा प्रस्तुत की गई कदाचित राहत का उल्लेख न करूं तो मैं कैमरा कुशलता और "बेहतर" सिनेमा गति के प्रति अमेवा भाव रखूंगा। यह एक ऐसी बहादुर नई जाति है जिसने हमें फिल्म निर्माण की नई धारणा के प्रति द्रुत गति से जागरूक कर दिया है। आकस्मिक छान बीन से यह पता चलेगा कि छोटी फिल्म का निर्माता बाक्स आफिस के दबाव के नीचे नहीं है और न ही वह रूमानी पटकथा लेखक के बंधन में है। उसके अपने नायक और नायिकाएं सर्वत्र गांव और शहरों में होते हैं। उसके सैट वास्तविक संसार होते हैं और इसलिए उनमें कोई शाब्दिक आडंबर नहीं होता है और न ही वार्तालाप और संगीत रचनाओं की अनिवार्यता होती है। वह वितरकों और प्रदर्शकों के प्रलोभनों से परे होकर काम करता है। आम तौर पर उसकी अर्थ व्यवस्था बड़ी कसी हुई होती है। उसे तत्काल रचना

compiled and created by Bhartesh Mishra

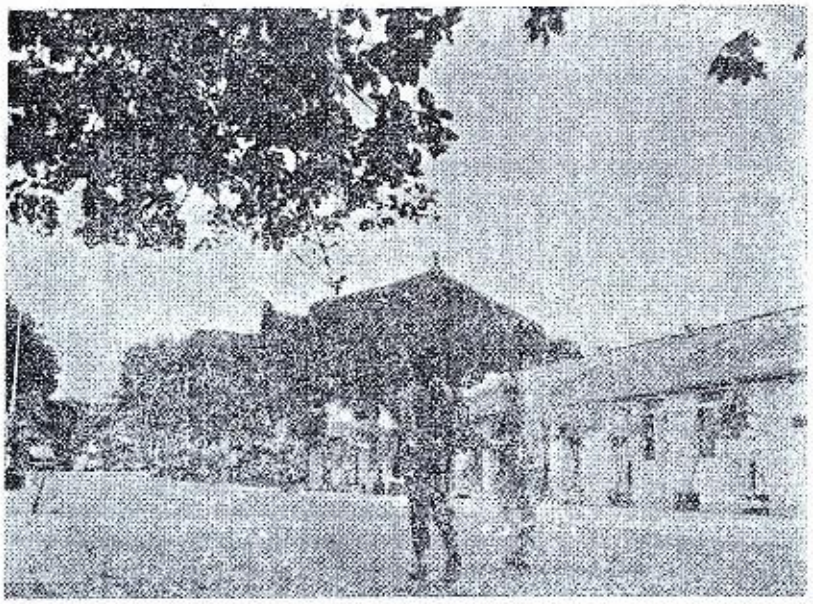

एक स्टूडियो का बाहरी दृश्य

करनी होती है और शूटिंग करनी होती है। उसकी मुख्य पूंजी सुगम कैमरा कार्य है। और इसके कारण उसके प्रोडक्शन (कृति) में ऐसी स्थिर स्पष्टता और कोटि होती है जो उसको अन्य लोगों से ऊपर उठा देती है। इस देश में "फीचर फिल्म" निर्माण के क्षेत्र में पश्चिम की तरह ही डाकूमेन्टरी आंदोलन ने नई दिशाएं दी हैं। कुल्लू, मनाली और शिमला तथा बाहरी अवस्थितियों के प्रति प्रेम का प्रादुर्भाव निश्चय ही फिल्म डिवीजन शाट्स की गहरी जड़ों के कारण हुआ है। यहां तक कि हमारी न्यूजरील भी, जब वह किसी आदरणीय मंत्री पर अनुग्रह न कर रही हो तो उनको देखने से अति आनंद आता है। जो जीवनियां वे प्रस्तुत करती हैं वह उच्च सिनेमा सत्य शैली ही होती है। यह एक अलग बात है कि ऐसा उनमें अक्सर नहीं होता है।

जिस प्रकार कुछ एक अबाबीलों से बसंत नहीं आ जाता उसी प्रकार हममें से कुछ एक गुणी लोगों के कारण निश्चय ही हम अपने गुणात्मक योग दान के बारे में विश्वास पूर्ण दावा नहीं कर सकते हैं, लेकिन ऐसे लक्षण हैं कि हम जागृत हैं। हमारे पास काफी संख्या में कैमरा शिल्पी हैं जिनका नाम उस समय स्वर्णाक्षरों में लिखा जाएगा जब भारत में सिनेमा का इतिहास फिर से लिखा जाएगा। कुछ उच्च कोटि के शिल्पी अपना कमाल अब भी दिखा रहे हैं जबकि कुछ एक इस काम को छोड़ चुके हैं, अवधूत, श्याम सुन्दर, अग्रवाल, कृष्ण गोपाल, विमल राय, नितिन दास, वीर सिंह, सरपोतदार, ईरानी, जमनादास कपड़िया, टी० एस० रामनाथ, विद्यापति घोष, एलपा, राधू करमाकर, रामानन्द सेन गुप्त, के० एस० प्रसाद, अजयकार, पांडूरंगनाईक, नरीमन ईरानी। लेकिन इन सभी नामों की गिनती का उस समय कुछ महत्व नहीं रहता जब हम यह सोचते हैं कि भारत में अब 60 संपूर्ण फिल्म स्टूडियो, 39 से अधिक फिल्म साफ करने वाली प्रयोगशालाएं, काफी बड़ा कच्ची फिल्म बनाने वाला संयंत्र है और हमने पचास साठ साल की अवधि में दस हजार चार सौ अतिरिक्त आकार वाली फीचर फिल्मों का उत्पादन किया है जिनमें से 5,100 फिल्में तो अकेली बोलती फिल्मों के युग में हैं तथा फिल्म उद्योग हमारे बड़े उद्योगों में से है जिसमें 50 करोड़ पूंजीगत लागत लगी है तथा फिल्म बनाने और प्रदर्शन करने के धन्धे से लाखों तकनीकी और अन्य लोग लाभदायक आजीविका कमाते हैं।

भविष्य इतना निष्फल दिखाई नहीं पड़ता। हमें पूरी-पूरी आशा है कि हम अभी भी अपना स्तर सुधार सकेंगे। भले ही रास्ता लम्बा क्यों न हो। उत्सुक और साक्षर फिल्म निर्माताओं की एक समस्त नई पीढ़ी उभर रही है। और इस बात का तो कहना ही क्या कि देश भर में फिल्म सोसाइटियों और फिल्म आलोचकों की संख्या बढ़ती जा रही है और फिल्म संस्थान से प्रशिक्षण प्राप्त तकनीकी आ रहे हैं। इन्टेलसटेट, भूउपग्रह कार्यक्रम के कारण विस्तृत दूरदर्शन संगठनों का उज्जवल भविष्य और चेतन प्रयास जारी है जिनसे हम अन्तर्राष्ट्रीय फिल्म मेलों का आयोजन करते हैं जहां हम संसार के नवीनतम और अत्युत्तम गुणों को देखते हैं। निःसन्देह हम जागृत हो रहे हैं और कल हमारा होगा।

रूपांतर: प्रकाश राठौर

compiled and created by Bhartesh Mishra

भारतीय फिल्म संगीत तथा नृत्य की

राजकपूर के हिन्दी में बने तथा यूरोपीय भाषाओं में 'डब' किए गए चलचित्र आवारा के समय से, भारतीय फिल्म संगीत ने एक अन्तर्राष्ट्रीय स्थान बना लिया है। यद्यपि ऐसे संगीत का प्रभाव हमारी सभ्यता के इतिहास में अपरिमित तथा बेजोड़ है, तथापि विद्वतगण ऐसे संगीत को आसानी से मानने को तैयार नहीं। यह संगीत हमारे लिए विदेशी है। यह संगीत का ऐसा मिश्रित रूप है जो भारतीय संगीत के छोरों पर उग्र रूप से उभर आया है। भारतीय फिल्म संगीत परम्परा के सिद्धान्तों से इस प्रकार दूर हट जाता है कि यह नया संगीत, अब, परम्परा और नवीनता का सतत समागम नहीं माना जाता।

इंगलैण्ड में बरपी एक घटना, संगीत मूल्यांकन के लिए, इस समय बहुत महत्व रखती है। यह वह समय था जब 'बीटल्ज' की लोकप्रियता ने रूढ़िवादियों की विचारधारा में परिवर्तन ला दिया। परिणामस्वरूप, इंगलैण्ड की सरकार ने "बीटल्ज" को विशेष रूप से सम्मानित किया। तभी, इसके विरोध में, बहुत से सम्मानीय परिवारों ने अपनी उपाधियों से इन्कार कर दिया।

इसी प्रकार, बहु-प्रचलित फिल्म संगीत नृत्य को भी जो फिल्मों के प्रसारण एवम् रेकार्ड द्वारा अधिकाधिक प्रचार में आ गया है और भारतीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय बाजार में अधिक मांग पर है—परोक्ष नहीं किया जा सकता। बल्कि उसे भी परम्परा का ही अंग माना जाना चाहिए, उसी प्रकार, जैसे, किसी अधिक खर्चीले व्यक्ति को अतिव्ययता का बोध न कराते हुए, बड़े शानदार भोज के लिए प्रसन्नतापूर्वक सहमत किया जाए।

फिल्म संगीत की लोकप्रियता

फिल्म संगीत को, जहां एक ओर सुरुचिपूर्ण एवम् सरस नहीं माना जाता वहां उसे 'लय, कविता तथा ताल' से परिपूर्ण भी कहा जाता है। फिल्म संगीत कार्यक्रमों के समय, रूढ़िवादी अपने रेडियो बन्द कर देते हैं जबकि अन्य परिवार उसका आनन्द लेते हैं। वे छुप-छुप कर न केवल उसे तन्मयता से सुनते हैं और उसके तोड़ों पर नृत्य करते हैं बल्कि उसका अनुकरण भी करते हैं। उस संगीत से उनका समय हर्षपूर्वक बीतता है। एक पनवाड़ी भी उससे इतना शीघ्र प्रभावित होता है जितना कि एक रिक्शा या टैक्सीवाला। एक कृषक भी इसके आकर्षण से नहीं बच पाता। वह भी जवानों, कामगारों तथा कालेज के विद्यार्थियों के संग, इन धुनों की लय पर गुनगुना उठता है। यहां तक कि मन्दिरों और गुरुद्वारों में भी फिल्म धुनों की लय पर सत्संग किया जाता है। 'मैं क्या करूं राम मुझे बुड्ढा मिल गया', को 'किशन मिल गया' में बदल दिया जाता है।

मूल गीत को राजकपूर द्वारा निर्मित एवम् निर्देशित चित्र 'संगम' में वैजयन्ती माला ने बड़ी उत्कृष्टता से अपनी चपल नृत्य भंगिमा में प्रस्तुत किया था।

परिमाण के इस नियम में कुछ अपवाद हैं। कई चित्र संगीत प्रधान हैं हालांकि उनकी संख्या भले ही कम है जैसे संगीतात्मक—तानसेन, बैजू बावरा, मिर्जा गालिब तथा अब्बेखां;

2. नृत्यात्मक—चित्रलेखा, झनक-झनक पायल बाजे, नवरंग, स्त्री, कोहेनूर मालाबार्ई, तथा सिल्साला सोहनीमवाल;

3. ऐतिहासिक—राम राज्य, मुगले आजम, अनारकली,

compiled and created by Bhartesh Mishra

परम्परा एवम् प्रवृत्तियां

तारा रामास्वामी

आम्रपाली तथा वीरा पान्डया कटबोम्मन ।

अन्य बहुत से चित्रों में भारत के शास्त्रीय और लोक संगीत का अभाव मिलता है ।

एक संगीत शास्त्री के शब्दों में :

'कला को श्रोतागण की परिचित भाषा में ही होना चाहिए ताकि वे, किसी अंश तक उसका गुणगान कर सकें । अन्यथा कितनी भी विभिन्नता क्यों ना हो, श्रोताओं को तदरूपता का आभास होगा । हम परिचित के मुकाबले, विरोधाभास द्वारा ही, बारम्बार चकित हो सकते हैं न कि अव्यवस्था द्वारा ' ।

'एक पूर्णतया आकस्मिक ध्वनि लहर अथवा एक पूर्णतया आकस्मिक वर्ण अनुक्रम की भांति, एक पूर्णतया आकस्मिक चित्र क्रम, गणित विधि द्वारा भले ही अधिकतम आश्चर्यजनक हो तो भी सभी क्रमों की तुलना में सबसे कम अनुमानपरक होता है । किन्तु एक पूर्णतया आकस्मिक क्रम सब क्रमों से नीरस भी होता है और एक प्राणी के लिए, एक आकस्मिक क्रम दूसरे का प्रतिरूप लगता है ।

इस प्रकार के आकस्मिक क्रम बांधने में बम्बई की तीन जोड़ियां शंकर जैकिशन, कल्याण जी आनन्द जी तथा लक्ष्मी कान्त प्यारेलाल — का कोई सानी नहीं । वे अधिकाधिक आर्थिक लाभप्रद गलोबिनोद में विश्वास रखते है ।

राज रतन के अनुसार, उन्होंने हमारी फिल्मों में, डब्बे बन्द संगीत की बाजार को, वस्तुतः आधिपत्य में ले लिया है जबकि दूसरे निराशा में भटकते हैं । इसी कारण से राज रतन को उनके संगीत में सतत पतन का आभास हुआ है ।

पृष्ठद्वार से पाश्चात्य संगीत

जब हम भारतीय फिल्म जगत की सामाजिक, हास्य-प्रधान, त्रासदी फिल्मों का निरूपण करते हैं, तो उनमें हमें पाश्चात्य लय तालों के कुछ परिक्षिप्त अंशों का समावेश मिलता है । परन्तु वह इस प्रकार गुथा हुआ होता है कि उसमें सहज ही भारतीय संगीत की अनुभूति होती है । इस प्रकार पाश्चात्य संगीत, पृष्ठद्वार से हमारे गृहों में प्रवेश पा गया है । कोई भी विचारशील श्रोता पहचान सकता है कि ऐसा संगीत निस्सदेह आधुनिक उत्तम संगीत नहीं है । ऐसे संगीत में सम्भवतः 'पब' अथवा 'पाप' की झलक मिलेगी । बहुत-सा 'हिट' कहे जाने वाला संगीत विदेशी राग रंग की हू बहू नकल होता है ।

एच० एम० वी० के एक सज्जन से हुए साक्षात्कार में लेखक को पता चला कि वाद्य-वृन्द रचना, 'अरेन्जरज' तथा उनके सहायकों की सहायता द्वारा ही की जाती है । यह आवश्यक नहीं कि 'अरेन्जरज' सध हुए व्यक्ति हों । वास्तव में वे पढ़े-लिखे भी नहीं हो सकते । परन्तु वे वादकों के बहुत बड़े समूह को, वाद्य-वृन्द के लिए बैठाने में सिद्धहस्त होते हैं । एक फिल्म संगीत निदेशक की पहचान, वादकों की संख्या से की जाती है चाहे उसे पाश्चात्य संगीत के वाद्य-यन्त्रों का पूर्ण ज्ञान हो या नहीं । जितनी अधिक वादक संख्या होगी, उतना अधिक श्रेय संगीत निर्देशक को मिलेगा । यह प्रवृत्ति इस सीमा तक पहुंच गई है कि प्रत्येक संगीत-निर्देशक को 50 से 100 तक वाद्य-यन्त्र काम में लाने पड़ते है । वाद्य-वृन्द का आकार भावी संगीत निदेशकों के लिए 'विशिष्टता चिन्ह' बन गया है ।

compiled and created by Bhartesh Mishra

बम्बई की सुर शृंगार समसद ने उन फिल्म निर्माताओं, निदेशकों तथा संगीत-निर्देशकों के लिए एक विशेष पारितोषिक की व्यवस्था की है जो भारतीय फिल्मों में कुछ उत्तम शास्त्रीय गीतों का समावेश करते हैं। लता, मन्नाडे, महेन्द्र कपूर और आशा भोंसले कुछ ऐसे कलाकार हैं जिन्होंने यह पारितोषिक प्राप्त किया है। रचनाओं को जांचने के लिए निर्णायक, तीन दिन लगातार बैठकर तीन चार सौ गीतों को ध्यानपूर्वक सुनते हैं। अन्ततः उन्हें केवल तीन या चार गीतों में ही शास्त्रीय संगीत का स्वरूप मिलता है। अब तो इस क्षेत्र में भी श्रेष्ठता पाने वाले रेकार्ड दुर्लभ होते जा रहे हैं।

शास्त्रीय संगीत

कुछ भी हो, परम्परा के अनुयायियों को सर्वदा के लिए दिवा-स्वप्न की मोहक-मीनारों में नहीं विचरना पड़ेगा। एक समय 'कन्सर्ट-म्यूजिक' इतना लोकप्रिय था कि श्रीमती एम० एस० सुमुलक्ष्मी ने अपनी पहली ही फिल्म मेरा सदानम में अपने सर्वोत्तम गायन का परिचय दिया। तत्पश्चात् अपनी हिन्दी फिल्म मीरा में भी उसने वैसा ही कौशल दिखाया। इस प्रकार उसने अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में इसकी मांग पैदा की। वास्तव में उसने फिल्म माध्यम का अपनी कला की लोक-प्रियता के लिए उपयोग किया। सहगल अपने गीतों को स्पष्ट उच्चारण तथा मधुर-ध्वनि में गाकर अमर हो गए। 'तानसेन' उनकी सबसे विस्मरणीय फिल्म है, जिसमें उन्होंने अकबर के दरबार के एक अन्य महान संगीतज्ञ को अमरत्व प्रदान करते हुए, अपनी आवाज को भी अमर बनाया। सहगल के लिए यह श्रेय की बात है कि गीतोच्चारण, अनुकूल स्वरालाप तथा ध्वनि-मुखरता में उन्हें कोई नहीं लांघ पाया। सहगल ने ही वह मार्ग बनाया जिस पर, बाद में रफी तथा मी० एच० आत्मा चले। सहगल ने प्रदर्शित किया कि यह फैयाज खां के शिष्य अवश्य हैं परन्तु उनकी शैली एक नई श्रोता-मण्डली के लिए है। इसी प्रकार एम० एम० दण्डपाणि देसीकर, तन्दानार का जीवन चरित करते हुए अमर 'परियाह' बन गये। रवी शंकर जैसे शास्त्रीय संगीतकारों की ओर विशेष ध्यान नहीं दिया जाता क्योंकि वे स्वयं को 'कला कला के लिए' के ऊंचे महलों में बन्द कर लेते हैं। इनमें कई एक तो अपने अनुयायियों को संशय की दृष्टि से देखते हैं और इसलिए अपने शिष्यों को केवल आंशिक ज्ञान ही देते हैं।

हमारे समक्ष एक बड़ी समस्या यह भी है कि लोगों के सामने अच्छा संगीत विशिष्ट मात्रा में नहीं आता। अधिकतर श्रोतागण इस संगीत को सुनते हैं जो चालू किस्म का होता है और जिसे चालू किस्म की भावनाओं से ओत-प्रोत कर प्रसारित किया जाता है। इसके विपरीत एक अन्य शास्त्रीय संगीतकार है जो अपनी जन्मभूमि से भाग कर, एक नई श्रोतामण्डली के लिए संगीत जुटाता है। उसकी अन्तरध्वनि को सुनने वाला, वह विदेशी श्रोतामण्डल है, जो सम्भवतः एक योग मुद्रा में बैठा अथवा आध्यात्मिक मनन में तल्लीन हो, अफीम चबाते हुए, भारतीय संगीत के दुर्बोध स्वरों को ध्यानपूर्वक सुनता है।

शायद मानव में विदेशीयता के प्रति एक दुर्बलता बनी हुई है। यही कारण है कि लुधियाने की किसी वस्त्र निर्माण संस्था को 'मेड इन इंगलैण्ड' अथवा 'मेड इन जर्मनी' के लेबिल लगा कर बाजार में आना पड़ता है। इस प्रकार जो संगीत विदेशी श्रोता को आकर्षित करने की क्षमता रखता है, वह हमारे नवयुवकों को भी आकर्षित करता है। राजाओं अथवा राजकुमारों की संरक्षणता खो जाने, तथा कई राज्यों में मन्दिरों के कन्सर्ट-केन्द्र न रहने पर, अच्छा संगीत बिलकुल अकेला रह गया। उत्सवों अथवा त्यौहारों का पुनर्उत्थान करने से उपयुक्त तथा रुचिपूर्ण श्रोता फिर से शीघ्रातिशीघ्र उत्पन्न किए जा सकते हैं।

अगर यह पूछा जाए कि फिल्म संगीत को क्यों इस भारी संख्या में बेचा जाता है तो उत्तर पर किन्सन के 'विज्ञापन दो अन्यथा विलीन हो जाओ' वाले सिद्धांत में मिलेगा। तभी तो डा० वी० वी० केसकर के युक्तिपूर्ण परामर्श के विरोध में, विनाका हिट पैरेड आन खड़ी हुई। यदि हम यह तर्क दें कि फिल्मों से मिलने वाला संगीत, संगीत कदापि नहीं होता बल्कि केवल शोरगुल होता है तो अधिकतर लोग हमारा विरोध करने लगेंगे। हम लोगों को अच्छे संगीत सुनने के लिए बाध्य नहीं कर सकते। ऐसा केवल शनैः शनैः किया जा सकता है। क्योंकि भाषा की तरह संगीत भी लोगों पर थोपा नहीं जा सकता। सर्वोत्तम संगीत धीरे-धीरे ही ग्राही होगा और सुरावृत्ति की भांति ही इसके लिए भी रुचि विकसित की जानी चाहिए। एक बार, जब उत्तम रुचि उत्पन्न हो जाए तो उसके लिए भूख स्वयं ही बढ़ने लगेगी। बल्कि श्रोताओं के उत्तर के रूप में इसकी मांग भी बढ़ेगी। तभी हम किन्सन के साथ यह कह सकेंगे कि 'जो वस्तु विक्रय-योग्य नहीं है, उसे किसी भी अधिक विज्ञापन क्रिया द्वारा नहीं बेचा जा सकता'।

यदि फिल्म संगीत जैसी उपभोक्ता वस्तु के लिए श्रोता ही प्रमाण-विषय माने जाएं तो मांग उत्तरोत्तर बढ़ रही है जब कि इसकी पूर्ति हमेशा ही सीमित है। इससे ऐसी स्थिति उत्पन्न हो जाती है, जहां, एक लालची पारखी, फिल्म संगीत निर्देशक रूपी रसायन वाले से, अपनी मूलधातु को स्वर्ण में परिणत कर देने की प्रतीक्षा में रहने लगता है।

भारतीय संगीत के एक महान अनुमोदक यहूदी मेनुहिन की धारणा है कि जब किसी व्यक्ति के कान भारतीय संगीत के प्रति सध जाते हैं तो सुरों वाले वाद्ययन्त्रों की आवाज भी असहनीय और रूक्ष लगने लगती है। वह रूढ़िवादी तथा आधुनिक भारतीय संगीत के बीच की खाई पाटने के लिए वीणा तथा वायलन जैसे तारों वाले वाद्य-यन्त्रों के पक्ष में है। उसने उत्तम प्रकार के, भारतीय संगीत के बहुकाल तक प्रभाव में रहने के बाद ही यह सुझाव दिया है। उसने बढ़कर उसने यह भी अनुभव किया है कि 'इकट्ठे बजाए जा सकने वाले भारतीय वाद्य-यन्त्रों की अधिकतम संख्या, निस्सन्देह 5 या 6 की उपयुक्त संख्या ही है जिसे लुकास फास ने भी लगभग अधिकतम संख्या ही पाया है जिनमें प्रत्येक वाद्य-यन्त्र एक पंक्ति के लिए एक सुर (ध्वनि) का अभूतपूर्व उत्तरदायित्व संभाले रहता है। एक अन्य स्थान पर महान वायलन वादक ने जोर दिया है कि वाद्य-यन्त्रों की संख्या को दुगना (तिगुना या अधिक की तो बात ही दूर रही) कर देने से सत्वहीन बोझिलता बढ़ती है तथा भारतीय संगीत की मृदु लहरियों और शृंगारिक गुणों में विघ्न पड़ता है।

भारतीय संगीत तथा वाद्यवृन्दीकरण

भारतीय संगीत का वाद्यवृन्दीकरण सुगम नहीं है। भारतीय संगीत का मूलाकार आलापात्मक है जब कि वाद्यवृन्दीकरण के लिए स्वरात्मक अथवा सामंजस्यपूर्ण होने की आवश्यकता है।

compiled and created by Bhartesh Mishra

अभी भी 'पाप' अथवा 'बीट-म्यूजिक' की अपूर्व मांग है। हमारे युवक, गिटार, स्पेनिश गिटार, आयलन, सेक्सोफोन, सभी प्रकार के साज और स्पेनिश-दक्षिण अमरीकी जैसे पाश्चात्य संगीत बाद्य-यन्त्रों की मांग करते हैं। वे पाश्चात्य शैली के सामूहिक गायन को भी अपना रहे हैं।

एक अन्य संगीत-पंडित बनराज भाटिया का मत है कि भारतीय बाद्य-यन्त्र निर्देशक को अपने सोचने के सम्पूर्ण ढंग में परिवर्तन लाना पड़ेगा और मानना पड़ेगा कि मधुर संगीत, सम्भवतः पूरे बाद्यवृन्द पर नहीं प्रस्तुत किया जा सकता जिसका आधार एक स्वर को दूसरे स्वर में जोड़ने या मिलाने की क्रिया हो। यही बात अधिकतर फिल्म संगीत निर्देशक नहीं जान पाता। वह, प्रभाव की सम्पूर्णता के स्थान पर आंशिक प्रभावों में गुथा रहता है। इसीलिए गायन सम्बन्धी कल्पना में, अथवा गायन-प्रक्रिया में अकेले स्वर के तुरंत बाद ही तीन सुरों वाले संयुक्त स्वर या पाश्चात्य चालू अनुरूपता (स्वरता) के अध्यारोपण का फूहड़ प्रयत्न किया जाता है, जिसके परिणामस्वरूप ललित संगीत के सम्पूर्ण गुण हमेशा के लिए विलीन हो जाते हैं।

सी० रामचन्द्र, ओ० पी० नैयर तथा शंकर जयकिशन इस नए शंकर-संगीत के स्रष्टा हैं। उनके विपरीत हमारे पास एस० डी० बरमन तथा नौशाद हैं। परन्तु कुछ भी हो शंकर-जयकिशन का स्थान किसी फिल्मी सितारे से कम नहीं। वे संगीत जगत में, अरक्षित योजना के हृदय ग्राही प्रासाद के लिए, सामान जुटाते हैं। चाहे वह चिरस्थायी हो या नहीं, इसकी चिन्ता कौन करता है। इस प्रकार निर्माताओं, कलाकारों तथा संगीत निर्देशक द्वारा तीन बार दूषित चक्र बुना जाता है। वे एक ओर तो पैसा लगाने वालों पर निर्भर करते हैं तथा दूसरी ओर दर्शकों पर जो कि पैसा खर्च करते हैं। प्रत्येक नए पैसे से पैसा लगाने वाले को——जो लाभ-प्रयोजन के आधार पर काम करता है——लाभ होना ही चाहिए। सारी व्यय की गई राशि मिल जाने के बावजूद उसे कई गुना लाभ भी लेना होता है। सम्भवतः यही अकेला ही, छः गाने, तीन नृत्य, एक मल्लयुद्ध तथा एक कामुक दृश्य वाले सूत्र या फारमूले के लिए बाध्य करता है।

पांचवें दशक में इसी प्रकार का संगीत इतना महत्वपूर्ण हो गया था कि कोई फिल्म अपने गानों के आधार पर ही बिक जाती थी। यह गाने हिज मास्टर वायस के फोनोग्राफ द्वारा रेडियो सीलोन को बेच दिए जाते थे। यही वह समय था जब फिल्म संगीत ने वास्तव में धूम मचा दी थी।

फिल्मों में नृत्य

जहां तक नृत्य का प्रश्न है, भारतीय नृत्यों में से नाच परम्परा से सम्बन्धित कथा या जचश लाट्चम् का दृश्य अथवा पाश्चात्य नमूने का 'कैबरे' 'स्ट्रिपटीज', 'टिवस्ट' और हैलन के 'जायरज हैडेड' तो होने ही चाहिए। यह दृश्य देवदास जैसे फायनवादी नायक के लिए उकसाने वाले प्रभावों का काम करते हैं। पार्श्वसंगीत जिज्ञा-ग्राही तथा संवाद (बातचीत) कामोद्दीपक होती है। दूसरा नृत्य किसी त्यौहार अथवा मेले के लिए लोक नृत्य हो सकता है। यह प्रायः सामूहिक नृत्य होता है। आवश्यक नहीं कि उसके पीछे कहे जाने वाले गीत, लोक भाषा में ही हों। तीसरा नृत्य स्वप्न-दृश्य अथवा पुनर्जन्म के दृश्य में हो सकता है, जिसके लिए तड़क-भड़क के साथ सजाया हुआ स्थान रंग-मज्जा का काम देता है अन्यथा इसके लिए कालेज का हाल भी काम दे देगा (चल जाएगा)। ऐसे दृश्यों के लिए वेश-भूषा ऐसी होती है जो केवल स्वप्न-भूमि ही जुटा सकती है। यदि, केवल इस दृश्य में ही सेन्सर का ध्यान हटाया जा सके तो दृश्य का कुछ और ही रूप देखने को मिलेगा। यदि नायिका को नृत्य में भाग नहीं लेना होता तो उसे दर्शकगण के बीच देखा जा सकता है जहां खलनायक भी अपने हथकण्डे फैलाने के लिए अवश्य उपस्थित होगा। शेक्सपीअर के 'माउस-ट्रैप' की ही भांति 'नाटक के अन्दर नाटक' बना दिया जाता है। शेष तीन गाने फार्मूले की दृष्टि से रखे जाते हैं। एक गाना प्रणय में दूसरा विछोह के समय अतिरिक्त आंसू पोंछने के लिए तथा तीसरा प्रार्थना या देश निष्कासन जैसे बन दृश्यों के लिए होता है।

सम्भवतः फिल्म के प्रदर्शन के समय, बाद्यवृन्द की मधुर बन्दिश, कथानक का दूसरा रुख दर्शाने के लिए, एक आवरण का काम देती है। परन्तु यह उस व्यक्ति के पल्ले नहीं पड़ती जो ऐसे संगीत को केवल सुनता ही है।

सहगल, कानन देवी, खुर्शीद तथा शान्ता आप्टे के बाद सुरैया ही ऐसी कलाकार हैं जो गाती है और खुले गले से गाती है। अन्य सभी, पराई आवाजों से जगमगाते हैं। भारतीय चलचित्र में यह एक विलक्षण सी-बात है। कलाकारों में कई तो एक ही आवाज से सटे रहते हैं अथवा एक ही आवाज पर स्थिर रहते हैं। राजकपूर केवल मुकेश की ही आवाज लेते हैं। यहां तक कि मुकेश के गाने पर हमें यह सुनने को मिलता है कि अमुक गाना 'जिस देश में गंगा बहती है' में राजकपूर ने स्वयं ही गाया है। समस्या तब उत्पन्न होती है जब चरित्र में बिना किसी परिवर्तन के भी, एक ही अभिनेता के लिए, दो विभिन्न गायकों की आवाज सुनाई देती है या जब दो या अधिक चरित्र निभाता हुआ एक अभिनेता, उसी एक ही आवाज से चिपका रहता है। बहुधा, गम्भीर आवाज वाली कोई नायिका लता की आवाज में अकस्मात ही स्पर्श रेखा का छू लेती है। निर्माता के लिए प्रस्तावित चित्र में विभिन्न चरित्र निर्धारित करने से पूर्व दो आवाजों की विशेषता आंक लेना उचित अथवा लाभप्रद रहता है। ध्वनि विज्ञान इतना आगे बढ़ गया है कि हत्यारा को भी, टेप (अंकित) की हुई दूरभाष की बातचीत की ध्वनि से पहचाना जा सकता है।

लेखक ने जब अपने मित्रों से, ऐसे कुछ प्रश्न किए तो उनका कहना था कि आज का फिल्म-संगीत-नृत्य, आधुनिक मानव के जीवन से सम्बन्धित विचार का यथायोग्य प्रतिनिधित्व करता है। यदि संगीत प्रतिकूल अथवा विकृत लगे तो उसका जीवन भी वैसा ही होगा। स्वतंत्रता के पश्चात् भारत के खोखले समाज के लिए यह एक पलायनवाद है। उनकी स्वतन्त्रता निराशा-अंधेर है। इसलिए वे काफी के प्यालों तथा धूम धड़ाकों और शोरगुल वाले पुराने घुटित रूप से चमचमाते हुए 'डिस्कोथेक' के टेप किए हुए संगीत के सतत प्रवाह की ओर भागते हैं। यह अन्धकारपूर्ण संगीत है। यह आत्मा को कभी स्पंदित नहीं कर सकता।

संगीत-शास्त्रियों को फिल्म हेतु नए संगीत के निर्माण में सहायता देने के लिए, अपने आच्छादित वातावरण से-वाराणसी, शान्ति निकेतन तथा कलाक्षेत्र से बाहर आना पड़ेगा।

सूत्र एवम् फारमूला

एम० एस० वासन ने ही अपनी कौतुकपूर्ण आडम्बरयुक्त

compiled and created by Bhartesh Mishra

चन्द्रलेखा से सूत्र एवम् फारमूले की सृष्टी की। उसने टी० आर० राजकुमारी के लोलुप यौवनपूर्ण सर्वोत्तम शाट या चित्र प्रस्तुत किए। उस फिल्म में अविस्मरणीय नगाड़ा नृत्य प्रस्तुत किया गया था जिसकी रचना कई एकड़ भूमि पर की गई लगती थी। उनमें प्रस्तुत किए गए चकाचौंध कर देने वाले सैन्ययुद्ध, झूलों के करतब, सरकस तथा साहसी घुड़सवारों के प्रदर्शन अपने आप में परिपूर्ण थे। उसमें एजिवशिअन नृत्य तथा भरत-नाट्यम् भी प्रस्तुत किया गया था। भारत के गणराज्य में, स्वतंत्रता की नवीन अंकुरित भावनाओं की यह वास्तविक झलक थी। फिल्म बनाने में वासन को लगभग पांच वर्ष लगे। अब केवल फारमूला ही उनका अवशेष रह गया है। तभी से वही फारमूला शान्ताराम ने भी शकुन्तला, दो आंखे बारह हाथ अथवा स्त्री में अंगीकार किया।

उदय शंकर की कल्पना, एक सर्वथा विभिन्न चित्र है। इतने समय पश्चात् हम उसे, केवल स्मरण ही कर सकते हैं। यह अपने आपमें उच्च आदर्श चित्र था। अब तो उसका पुर्ननिर्माण भी नहीं किया जा सकता जब तक कि उदयशंकर उसे एक बार फिर वैसा करने को न सोचें। यह पूर्णतया अपने आप में शान्ताराम की 'झनक झनक पायल बाजे' तथा नवरंग से कहीं ऊपर का स्थान बनाए रख सकती है। इसी प्रकार लावन्नी भी तिल्लाना मोहनाम्बाल से कितनी अधिक श्रेष्ट है।

पाथेर पंचाली : रवी शंकर

सत्यजित रे और ख्वाजा अहमद अब्बास नियत फारमूला से कहीं आगे निकल गए हैं। पाथेर पंचाली में सत्यजित रे ने, रवी शंकर को अपनी सम्पूर्ण फिल्म देखकर तत्पश्चात् आवश्यक प्रभाव-शाली तत्व (संगीत) देने को कहा। इस प्रकार, संगीत फिल्म के कथानक तथा भाव के पूर्णानुरूप है। भारतीय फिल्मों की आत्मविरोधी उक्ति (बात) यह है कि सर्वसाधारण लोक फिल्म संगीत को पसन्द करते हैं जबकि बुद्धिजीवी उससे वितृष्णा करते हैं परन्तु कोई भी इसके प्रभाव से बचा नहीं रह पाता। जब तथा संगीत, भारतीय भूमि की परम्परा तथा जड़ों में प्रवेश पा लेगा और सभ्यता में गहरे पैठ जाएगा, तथा, जब नए संगीतकार पाश्चात्य संगीत में भी शास्त्रीय और आधुनिक प्रशिक्षण पा लेंगे, तभी स्वर-लयात्मक शैली के संगीत का उद्भव होगा। सम्भवतः ऐसा फिल्म माध्यम द्वारा ही हो पाए।

परन्तु यदि वर्तमान को लें, तो अत्यधिक उत्पादन के मुकाबले, फिल्म संगीत का लालित्यपूर्ण रूप कुछ-कुछ मन्द लगता है। प्रभावोत्पादक संगीत को जड़ीभूत संगीत का स्थान ले लेना चाहिए, जबकि होता यह है कि बहुधा, किसी तुक या कारण के बिना ही, संगीत को प्रयोग में लाया जाता है।

भारत में, सभी कलाओं के सम्पूर्ण विस्तार में से संगीत ही उच्चरूप से विकसित तथा कठिन (उलझन भरा) है, जो विरासत में मिला है। देवतागण भी इस कला का अभ्यास करते थे। जब शिव, अपनी संगिनी पार्वती के साथ, उत्पत्ति, पालन तथा विनाश का नृत्य करते, तो विष्णु एक बहुत बड़े वाद्यवृन्द के साथ उनका साथ देते। संगीत मानव की आत्मा की काव्यात्मक अभिव्यक्ति है। वास्तव में यह वह श्रृष्टाचार है, जो जीवन की रंगबिरंगी हर्ष और शोक की भावनाओं को उभारता है। यह प्रकृति के साथ सामंजस्य स्थापित करता है तथा मानव की आशाओं और भय (आशंकाओं) को प्रदर्शित करता है। संगीत तथा नृत्य को, अतीत की तुलना में अब अधिक कल्याणकारी एवम् अधिक विस्तृत उद्देश्य के लिए उपयोग में लाया जा सकता है, ताकि, अन्ततः परम्परा तथा आधुनिकता (नवीनता) का उत्तरोत्तर तालमेल बना रहे।

रूपान्तर : पुरुषोत्तम चावला

compiled and created by Bhartesh Mishra

भारतीय फिल्मों की विषय-वस्तु

ख्वाजा अहमद अब्बास

"विषयवस्तु ही नाटक की आत्मा है," यही है वह सिद्धांत जो एक समय, भारत में ही नहीं विदेशों में भी फिल्म-उत्पादकों का मार्गदर्शन करता रहा। फिल्म उद्योग उस समय विकास की एक विशेष अवस्था में था और फिल्में भी कुछ न कुछ गंभीर सामग्री प्रस्तुत करती थीं। उस समय लोगों का ध्यान फिल्म संसार की हल्की फुल्की बातों की ओर न हो कर जीवन की कठोर वास्तविकताओं की ओर ही अधिक था। मुझे वह दिन अब भी याद है जब वस्तु प्रधान फिल्में पूर्ण विकसित अवस्था में थीं। हालीवुड से बहुत ऐसी फिल्में आई थीं जिनकी विषयवस्तु ऐतिहासिक, मनोवैज्ञानिक और समकालीन सामाजिक महत्व की थीं जैसे—'आई० एम० ए० फ्यूगिटिव', 'फ्राम चेन गेंगू', 'द इन्फार्मर', 'आल क्वायट आन द वैस्टर्न फ्रंट', 'सिटी लाइट्स', 'लाइफ़ आफ़ लुई पास्चर', 'एमिली जोला', 'गुड अर्थ', 'द ग्रेट डिक्टेटर', 'जुआरेज़', 'मिस्टर डीड गोज टु टाउन', 'मिस्टर स्मिथ गोज टु वाशिंगटन', 'ग्रेप्स आफ़ रैथ' और इसी प्रकार की बीसियों अन्य फिल्में।

सामाजिक महत्व की विषय-वस्तु

लगभग उसी समय चौथे दशक में और पांचवे दशक के प्रारंभ में—भारतीय फिल्में और विशेष रूप से अच्छी श्रेणी की फिल्मों की विषयवस्तु सामाजिक महत्व के विषयों से संबंधित होती थी। वह वह समय था जब राष्ट्रीय आन्दोलन का ज्वार उमड़ रहा था और लोगों के दिमाग में वैचारिक क्रांति हो रही थी। स्वतंत्रता आंदोलन के साथ-साथ जो सांस्कृतिक जागृति आई वह समाज सुधार के मानवतावादी और राष्ट्रीय आंदोलनों में भी प्रतिबिम्बित हुई। इस प्रभाव के कारण मध्य युगीन संतों के जीवन पर आधारित फिल्मों में भी मानवतावादी और सुधारवादी गुणों की छाप आ गयी जैसे दैवी पुरुषों का चरित्र-चित्रण समाज से अलग-थलग रहने वाले और अलौकिक कार्य करने वाले सन्यासियों के रूप में न करके उन्हें दया-वृत्ति वाले ऐसे आदर्श व्यक्तियों के रूप में चित्रित किया गया जो अपने साथियों की सेवा करना चाहते थे और प्रेम, समानता तथा विश्वबंधुत्व का पाठ पढ़ाते थे। 'संत तुकाराम', 'संत ज्ञानेश्वर', 'भक्त कबीर' और 'सूरदास' का भी यही विषय था।

साम्राज्यवाद के प्रति बढ़ते हुए विरोध के वातावरण में जनतंत्र एवं अत्याचार के विरुद्ध विद्रोह के लोकतंत्रीय अधिकार से संबंधित विषयवस्तु का समावेश पौराणिक कथानकों पर आधारित फिल्मों में भी बड़ी चतुराई से कर दिया गया—उदाहरण के तौर पर 'गोपालकृष्ण' ने अत्याचारी कंस के विरुद्ध ग्वाल कृष्ण का संघर्ष सामाजिकों के मन में देशभक्ति मूलक अवज्ञा की भावना पैदा किये बिना नहीं रह सकता था। 'पुकार' और 'सिकंदर' जैसी ऐतिहासिक फिल्मों का उपयोग देशवासियों में अपने पूर्ववर्ती राजाओं की वीरता और न्यायप्रियता के प्रति अभिमान पैदा करके देशभक्ति की भावना जागृत करने के लिये किया गया। विदेशी आक्रमणकारी अलेक्जेंडर की सेनाओं के पोरस द्वारा किये गये प्रतिकार से लोगों में साम्राज्य-वाद विरोधी भावनाओं का उभरना और दृढ़मूल होना अवश्यंभावी था। यहां तक कि 'तूफान मेल' जैसी स्टंट फिल्मों और अभिनय प्रधानफिल्मों ने भी काल्पनिक रूरिटेरियन ठाटबाट वाली रियासतों की पृष्ठभूमि में लोगों की लोकतांत्रिक आकांक्षाओं को चित्रित और गरिमामंडित करने का काम किया। औरों की तरह भारतीय फिल्मों का भी सर्वाधिक लोकप्रिय विषय बुराई के ऊपर अच्छाई की विजय

compiled and created by Bhartesh Mishra

दिखलाना ही था जिसे भव्य (जैसा 'सीता' में) और उपहास्य (जैसा 'शहरी लकड़हारा' में) विविध रूपों और शैलियों में चित्रित करके प्रस्तुत किया जाता था।

समकालीन सामाजिक वातावरण वाली फिल्में (जिन्हें पौराणिक और ऐतिहासिक फिल्मों से अलग करने के लिये 'सामाजिक फिल्म' कहा जाता था) ज्यों-ज्यों बनती और लोकप्रिय होती गयीं त्यों-त्यों फिल्मों में स्त्री शिक्षा, विधवा विवाह, मद्यपान के दोष, शहरी जीवन की बुराइयों और असमानताएं, पाश्चात्य फैशन का उन्माद आदि विषयों का समावेश, अपरिष्कृत रूप में ही सही अधिकाधिक होने लग गया। 'फैशनेबुल वाइफ', 'इंदिरा', 'एम० ए०', 'डाक्टर मधुरिका', 'लयोर आफ द सिटी', जैसे नाम इन फिल्मों की विषयवस्तु की भी अभिव्यंजना करते हैं।

बंगाल निर्मित फिल्में : देवदास

बंगाल में समाज सेवा की भावना से ओतप्रोत टैगोर, बंकिम-चंद्र चटर्जी, और शरतचन्द्र चटर्जी जैसे लेखकों की रचनाओं को रजतपट पर लाकर फिल्मों की विषयवस्तु और नाटकीय तत्वों का परिमार्जन करने का अधिक सचेष्ट प्रयत्न किया गया। इन उपन्यासों और कहानियों में तत्कालीन वास्तविकताओं का चित्रण किया गया था और अपने समय की समस्यायें प्रस्तुत की गयी थीं। 'देना पावना' (पुजारिन), 'देवदास', 'गृहदाह' (मंजिलल), 'काशीनाथ' और 'छोटा भाई' जैसी शरत् चटर्जी की रचनाओं के संबंध में तो यह विशेष रूप से सही था। इनकी विषयवस्तु सीधी-साधी और गंभीर थी और समकालीन भारतीय जन जीवन से ही ली गयी थी। इनमें सर्वाधिक लोकप्रिय 'देवदास' में संभवतः पहली बार ही जातपांत के क्रूर बंधनों के कारण प्रेम में असफल और जीवन के प्रति निराश एक नवयुवक की करुण कथा दी गयी थी। उसमें न तो प्रचार का पुट था और न ही देवदास की व्यक्तिगत विपत्ति के सामान्यीकरण का प्रयत्न, परन्तु दर्शकों के दिलो दिमाग पर उसका इतना असर हुआ कि 'देवदास' प्रेमार्त युवजनों की एक पूरी पीढ़ी का ही प्रतीक बन गया। देवदास ने मदिरा का आश्रय लेकर अपने नैराश्य से छुटकारा पाने का प्रयत्न किया था और उसके ही अनुकरण पर उसी की तरह हताश अथवा उसी की तरह के आर्त प्रेमी के रूप में अपनी कल्पना करने वाले हजारों युवजन भी सुरापान के मार्ग पर चल पड़े। इसे देवदासियत (अर्थात् देवदास-वाद) कहा जाने लगा और कालेजों और विश्वविद्यालयों में इसका विशेष रूप से फैशन हो गया क्योंकि वहां के छात्रों को तो असंयत जीवन यापन का एक बहाना ही चाहिये था। लेकिन इसका प्रभाव अभिभावकों और अध्यापकों पर भी पड़ा। कम से कम उनमें से कुछ तो ऐसे थे ही जो पथभ्रष्ट युवकों की इस समस्या को समझने लगे और जिन्होंने इस समस्या के प्रति सहानुभूतिपूर्ण रुख अपनाया।

यद्यपि देवदास का कथानक युवा प्रेम में असफलता के कारण पैदा होने वाले नैराश्य पर आधारित है उसके दोनों प्रेमी एक ही जाति की दो भिन्न उपजातियों के होते हैं। वास्तव में इस कथानक की घटनाओं के लिये जाति प्रथा उतनी उत्तरदायी नहीं है जितनी कि भारतीय समाज की वे पुरातनपंथी रूढ़ियां जिनके अन्तर्गत समाज में रोमानी प्रेम और युवक युवतियों द्वारा अपने जीवन साथी के स्वयंवरण की अनुमति नहीं दी जा सकती। देवदास की अनेक अनुकृतियां हैं और उसी के कथानक से प्रेरणा लेकर अनेक चल-चित्र बनाए गये हैं। नायक-नायिका द्वारा गाये अनेक गीतों से युक्त इन कथानकों का अंत नायक अथवा नायिका अथवा उन दोनों की मृत्यु से ही हुआ है।

शान्ताराम की देन

इस विषयवस्तु पर आधारित कथानकों में अधिक प्रगतिवादी तत्व लाने की जिम्मेदारी अपेक्षाकृत कम रोमानी किन्तु अधिक हृष्टपुष्ट महाराष्ट्रियों पर आ पड़ी। शान्ताराम की फिल्म 'दुनिया न माने' भारत में बनी संभवतः पहली पूर्णरूप से यथार्थवादी फिल्म थी। इसमें एक ऐसी युवती की कथा है जिसका विवाह एक बूढ़े विधुर से कर दिया जाता है और वह विवाह पक्का करने के लिये तैयार नहीं होती। उसका कोई प्रेमी नहीं है। वह अपने पति के कामासक्त पुत्र की छेड़छाड़ का प्रतिकार करती है किन्तु साथ ही साथ वह अपने बाप की-सी उम्रवाले बूढ़े की पत्नी बनकर रहने के अपने दुर्भाग्य के साथ भी समझौता नहीं कर पाती। इस कथानक में सामाजिक रिवाजों की शिकार उस लड़की की मृत्यु नहीं होती अपितु मृत्यु होती है बूढ़े विधुर की जो पश्चाताप, आत्मग्लानि अथवा अपराध-ग्रंथि का शिकार होता है। इस प्रकार यह पुराने असंगत रिवाजों की समाप्ति का प्रतीक है।

शान्ताराम की अगली फिल्म 'आदमी', एक प्रकार से नाटकीय कथोपकथन के रूप में एक निबंध ही था। वस्तुतः 'देवदास' के दर्शन ने ही शान्ताराम को यह फिल्म बनाने के लिये बाध्य किया क्योंकि शान्ताराम के विचार में वह नकारात्मक और जीवन घाती दर्शन था। यह भी निराश प्रेम की ही एक कथा थी—इसमें एक ईमानदार पुलिसमैन का एक ऐसी वैश्या से विवाह नहीं हो पाता जो अपना सुधार तो करना चाहती है पर उसकी धर्मशीला और पवित्र वृद्धा-माता की पुत्रवधू बनने से भय खाती है। पुलिसमैन वैश्या को उसके गंदे वातावरण से निकाल लाता है और उसे किराये के एक कमरे में रखता है किन्तु लोक निंदा के भय से दिन में उससे नहीं मिल पाता। यह गतिरोध चलता रहता है और एक दिन वह भूतपूर्व वैश्या छायावत अपना पीछा करने वाले एक दलाल की हत्या कर देती है। उसे आजीवन कारावास का दण्ड मिलता है। उसका व्यथित प्रेमी अपना जीवन समाप्त कर देना चाहता है किन्तु उसका एक मित्र उसे बचा लेता है और उसे समझाता है कि तमाम दुःखों और निराशाओं के बावजूद मनुष्य जीवन जीने के लिये है। अभी तक भारतीय सिनेमा की विषयवस्तु 'जीवन जीने के लिये है', तक ही सीमित रही। इससे आगे कुछ नहीं बताया गया। जीवन का अर्थ केवल पशुओं का-सा जीवन व्यतीत करना या भाग्य के आसरे हाथ पर हाथ धर कर बैठना नहीं है अपितु जीवन संघर्ष के लिये, जीतोड़ कोशिश करने के लिये सामाजिक वातावरण में सुधार लाने और उसे बदल डालने के लिये है—इस प्रकार का संदेश अभी तक नहीं दिया गया था क्योंकि ऐसा करने का अर्थ था ब्रिटिश साम्राज्यवाद के दमन और भारतीय समाज की रूढ़ियों को खुल्लम खुल्ला चुनौती देना। सेंसर का भूत तो सदा पीछे पड़ा ही रहता था पर सेंसर से भी बड़ी बात थी भारतीय निर्माता और निदेशक दब्बू थे या पुरानी लीक से हटना नहीं चाहते थे।

महात्मा गांधी ने अपने सत्याग्रह के दर्शन, मानवतावाद और समाज सुधार की लगन से राष्ट्रीय जीवन के अनेक क्षेत्रों में जागृति फैला कर प्रेरणा का संचार किया था और उससे कला, यहां तक कि

compiled and created by Bhartesh Mishra

न्यू थिएटर्स लि० का देवदास
निर्देशक पी० सी० बड़ुआ

सिनेमा की नयी कला भी अछूती न रही। और फिर जब भारतीय राजनीति में नेहरू जी आए तो उन्होंने बौद्धिकता और समाजवाद पर बल दिया। इसके साथ-साथ ट्रेडयूनियन आंदोलन, समाजवादियों और साम्यवादियों के प्रादुर्भाव, और रियासतों की जनता द्वारा किये गये संघर्ष का मिला जुला परिणाम यह हुआ कि उससे देश में एक नयी मनोवृत्ति का निर्माण हुआ।

अब इस नयी मनोवृत्ति का प्रतिनिधित्व करने वाला, समाजिक दृष्टि से सचेत और अच्छे सौंदर्यबोध से युक्त फिल्म निर्माताओं और फिल्म निर्देशकों का एक नया वर्ग आगे आया और पुराने रूढ़ि बंधनों को तोड़ कर राजनैतिक, सामाजिक और मनोवैज्ञानिक विषयों से संबंधित नयी विषयवस्तु को फिल्माने की जिम्मेदारी अब उनके कंधों पर आ पड़ी। उस समय की परिस्थितियों को देखते हुए विषय का प्रतिपादन तो अवश्य सतर्क गूढ़ या सांकेतिक ही रखा जाता था लेकिन अभिप्राय स्पष्ट रहता था।

हिन्दू-मुस्लिम एकता एक लोकप्रिय विषय था। इस विषय पर 1930 में ये ही 'राम रहीम' नामक मूक फिल्म बन चुकी थी। एक और मूक फिल्म 'रैथ' (Wrath) का भी यही विषय था। लेकिन शान्ताराम की 'पड़ोसी' (1941) में इसे अति उपदेशात्मक रूप न देकर अधिक सशक्त और नाटकीय ढंग से प्रस्तुत किया गया।

नये विचार और नये मूल्य

इस बीच विश्व में नये विचारों, क्रांतिकारी दर्शन, नयी सामाजिक धारणाओं और नये नैतिक मूल्यों का आविर्भाव हो चुका था। महत्व की बात यह है कि नयी जागृति के प्रतीक नये विषयों पर आधारित कथानकों में से अनेक के शीर्षक नया, या 'नयी' से प्रारंभ होते थे जैसे-'नया संसार', 'नया तराना', 'नयी कहानी', 'नयी जिन्दगी' आदि। लेकिन इनके अतिरिक्त अन्य विषय भी थे जैसे नितिन बोस ने 'प्रेजिडेंट' में एक नये प्रकार की मुक्त स्त्री का चित्रण किया, बरुआ ने 'मुक्ति और जिन्दगी' में नये भारतीय के आचेतन मन की खोज की। एक मराठी फिल्म 'सवकारी पाश' (साहूकार का जाल) में कुछ यथार्थता के साथ कर्ज के बोझ से दबी ग्रामीण जनता का चित्रण किया गया था। नितिन बोस ने 'धरती माता' (1938) में ग्राम जीवन का आदर्श रूप प्रस्तुत किया। इसके करीब 6 साल बाद इंडियन पीपुल्स थियेटर ने बंगाल के अकाल पर आधारित फिल्म 'धरती के लाल' में सामाजिक यथार्थता का पहली बार चित्रण किया। उसी साल अमीरी और गरीबी के अन्तर और पारस्परिक संबंधों पर चेतनानंद ने 'नीचा नगर' नामक फिल्म बनाई जो बहुत ही सांकेतिक और प्रभाववादी थी।

डेनियल डिफो और जोनाथन स्विफ्ट के समय से ही व्यंग के माध्यम से सामाजिक विषयों पर टिप्पणी करने की पुरानी साहित्यिक विधा रही है। भारतीय सिनेमा जगत में आचार्य आत्रे और मास्टर विनायक जैसे महाराष्ट्रीय लेखकों और निर्देशकों ने भी समकालीन समाजिक विषयों के संबंध में हास्य व्यंग का यही माध्यम अपनाया जैसे 'ब्रह्मचारी' (संयम करने की सनक पर), 'धर्मवीर' (धार्मिकता के मिथ्याचार पर), 'ब्रांडिची बाटली' (मद्यपान की बुराइयों पर), 'लग्न पाहावे करून' (वैवाहिक दुर्भेद पर व्यंग) और 'सरकारी पाहुने' (सामन्ती आसकों पर व्यंग चित्र)।

एटर्नल ट्रिप (निरन्तर भ्रमण)

यहां पर चैपलिन के 'एटर्नल ट्रिप' की विषयवस्तु पर आधारित कथानकों का उल्लेख करना असंबद्ध न होगा, जिनका न कोई प्रारंभ है न अंत और जो हास्यास्पद संयोगों से परिपूर्ण है। राजकपूर ने सबसे अधिक ऐसी फिल्में बनायी हैं या उनमें अभिनय किया है। 'आवारा' ने यह धारा प्रारंभ की थी जिसके बाद 'श्री 420' बनी और उसने 'समाज के स्तंभ' समझे जाने वाले लोगों की पोल खोलने का काम किया। इसी प्रकार 'जागते रहो' में एक ओर सीधे-सादे ग्रामीणों और दूसरी ओर अपराध, भ्रष्टाचार तथा निर्दयता से भरे नगरों का अंतर दिखाया गया है। वही ट्रैंप (घुमक्कड़) फिर 'अनाड़ी' 'दीवाना' और 'सपनों का सौदागर' बनकर आया। विभिन्न निर्माताओं द्वारा निर्मित इन सभी फिल्मों को न्यूनाधिक सफलता मिली। परन्तु ऐसे विषयवस्तु और पात्रों वाली फिल्मों की लोकप्रियता का सही अनुमान ऐसे देश अथवा समाज की पृष्ठभूमि में ही लगाया जा सकता है जहां सर्वत्र गरीबी ही गरीबी है और कुछ गिने चुने ही धनवान हैं और जहां का बहुसंख्यक गरीब समाज आर्थिक

compiled and created by Bhartesh Mishra

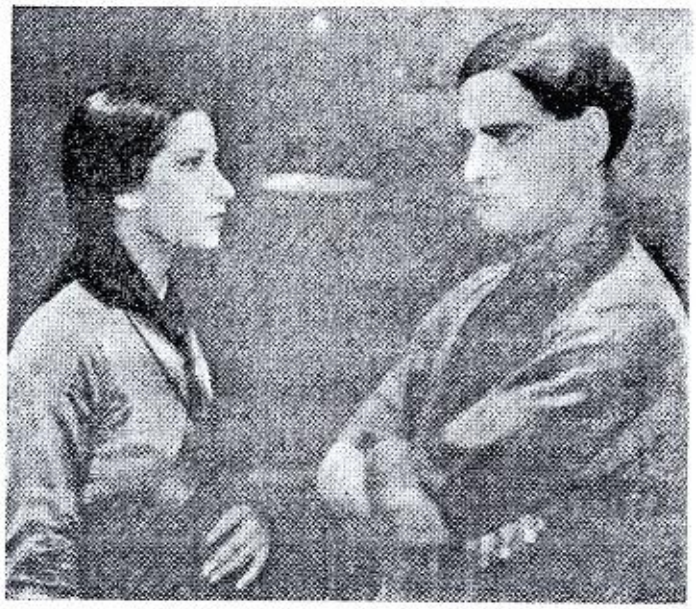

न्यू थिएटर्स लि० का प्रेजिडेण्ट जिसका
निर्देशन नितिन बोस ने किया

विषमताओं के विरुद्ध विद्रोह करने के लिये उतावला हो रहा है क्योंकि इनमें उसे खुद अपना ही रूप देखने को मिलता है जो संवेदना और दया का पात्र है और जिसके साथ वह तादात्मय स्थापित कर सकता है।

महायुद्ध, मुद्रास्फीति, फिल्मों में ब्लैक मनी का प्रवेश, महायुद्ध के दिनों में शीघ्र धनवान बनने की भागदौड़, भारत विभाजन की उथलपुथल के बीच स्वतंत्रता-प्राप्ति, तज्जनित व्यामोह भंग और निराशा, किन्तु भ्रांत लोगों की पलायनवादी प्रवृत्ति—ये सब कुछ ऐसी बातें हैं जिनके कारण अभिनेताओं, तड़क-भड़क वाले उत्पादनों के मूल्यों, और समृद्ध तकनीकों को महत्व दिया जाने लगा और लगभग एक दशक तक के लिये फिल्मों में वस्तु तत्व यदि समाप्त नहीं तो गौण अवश्य हो गया।

अपु फिल्म-त्रय

सत्यजित रे की अपुफिल्म त्रय और 'पाथेर पांचाली' को मिली विश्वव्यापी ख्याति, बिमल राय की 'दो बीघा जमीन' की अप्रत्याशित सफलता, इटैलियन नव-यथार्थवाद के प्रभाव (जिसका भारत में अन्तर्राष्ट्रीय फिल्म समारोह के कारण अनुभव किया गया), और सोवियत यूनियन के साथ सांस्कृतिक आदान प्रदान के कारण गंभीर किस्म की फिल्मों में लोगों की रुचि बढ़ी और 'मुन्ना', 'बूट पालिश', 'जागते रहो', 'मुसाफ़िर', 'इन्सान जाग उठा' और 'शहर और

प्रभात फिल्म कंपनी का दुनिया ना माने निर्देशक व्ही० शांताराम

compiled and created by Bhartesh Mishra

सपना' जैसी कई फिल्मों का निर्माण हुआ। स्वातंत्र्योत्तर वातावरण में इन सभी फिल्मों में अपने समाज और अपनी आर्थिक सामाजिक स्थिति पर आत्मविश्लेषणात्मक दृष्टि डाली गयी है।

लेकिन अब आगे से, रंगीन फिल्में बन जाने और रंगीन होने के कारण ही मामूली फिल्मों को भी व्यापारिक सफलता मिलने के कारण, विषयवस्तु प्रधान फिल्में भारत में अल्पसंख्या में ही बनेंगी। रंगीन फिल्मों में कुछ महत्व की विषयवस्तु का समावेश करने में भी एक और झंझट लग गया है। कम से कम अब ऐसे लक्षण नजर आ रहे हैं कि भारी लागत वाली तड़क-भड़क वाली फिल्मों को भी कुछ न कुछ अंश में सामाजिक चेतना से संतुलित करने के प्रयास किये जा रहे हैं जैसे-- 'उपकार', 'सत्यकाम', 'आदमी और इन्सान', तथा 'मेरा नाम जोकर' आदि में।

चाहे भारी सरकम बजट वाली तड़क-भड़क रंगीन फिल्म हो या कम खर्च पर निर्मित यथार्थतावादी प्रयास फिल्म-विषयवस्तु का महत्व तो अब दोनों ही क्षेत्रों में समझा जाने लगा है। एक ओर तो तड़क-भड़क वाली और बड़े खर्च से तैयार किन्तु वही नायक-नायिका के घिसे पिटे कथानक वाली फिल्मों की असफलता से आर्थिक लाभ को ही दृष्टि में रखने वाले निर्माता भी विषयवस्तु के महत्व को समझने लगे हैं तो दूसरी ओर सत्यजीत रे जैसे कलात्मक फिल्मों के निर्माता यह समझने लग गये हैं कि सौंदर्यबोध युक्त आत्माभिव्यक्ति

देवदास---निर्माता और निर्देशक बिमलराय

ही सब कुछ नहीं है फिल्मों के साथ दर्शकों का संबंध स्थापित होना चाहिये। आज के युवक का विद्रोह ही तपन सिन्हा के 'आपन जान' की विषयवस्तु थी। सत्यजित रे की नयी फिल्म में इसी समकालीन महत्वपूर्ण विषय पर एक भिन्न प्रकार का और संभवतः अधिक पैना व्यंग देखने को मिलेगा। इस समय कम लागत पर तैयार की जा रही ऐसी आधा दर्जन कलात्मक फिल्में उत्पादन की भिन्न-भिन्न अवस्थाओं में हैं जिनमें समाज विज्ञान और समाज-मनोविज्ञान से संबंधित विषयवस्तुएं विभिन्न वर्णनात्मक शैलियों में प्रस्तुत की जाएंगी। महत्वपूर्ण बात तो यह है कि हम यह अनुभव करने लग गये हैं कि विषयवस्तु ही फिल्म निर्माता और दर्शकों में परस्पर समझबूझ की भावना का निर्माण करती है और सर्वाधिक महत्वपूर्ण और लोकप्रिय विषय होता है मानव का अंतरंग जीवन जो बाहरी समाज की शक्तियों के दबाव में आकर परिवर्तन की ओर प्रवृत्त होता है।

रूपान्तर : शशीकान्त

compiled and created by Bhartesh Mishra

यथार्थता और भारतीय चलचित्र

विक्रम सिंह

किसी चलचित्र में आकर्षक नायिका ऊंची सिसकियों के साथ नकली आंसू बहाती है उसे देखकर आप यदि चिढ़ेंगे नहीं तो ऊब अवश्य जायेंगे क्योंकि दृश्य सच्चा नहीं लगता।

सत्य लगना

जब हम कहते हैं कि अमुक दृश्य अथवा पात्र या सम्पूर्ण चलचित्र सत्य जान पड़ता है तो उसका अभिप्राय क्या है ? और घटनायें कब सत्य और कब असत्य होती हैं ? स्पष्टतः यह 'सच्चा लगना' प्रस्तुत दृश्य का दर्शक के अनुभव से बिल्कुल मिलता-जुलता होने या प्रस्तुत घटना की संकल्पना से अधिक और कुछ नहीं है। हम सब के अपने नित्यप्रति के जीवन में घटने वाली लाखों छोटी-बड़ी घटनाओं की मानसिक छापें रहती हैं, उदाहरणतः बच्चे के व्यवहार की मानसिक छापें, लेकिन स्थिति कुछ भी हो जब किसी मूर्त या अमूर्त घटना की प्रस्तुति दर्शक के सामने आती है तो इसकी तुलना दर्शक के अनुभव भण्डार की वैसी ही घटना से तुरंत और स्वतः हो जाती है यदि यह मेल खाती हो अथवा लगभग मेल खाती हो तो शनाख्त हो जाती है और प्रस्तुति 'सत्य लगती है'। यदि मेल न खाती हो तो दर्शक अन्तर जतलाने वाले कारणों के अभाव में प्रस्तुति को झूठा, असत्य अथवा कम से कम संभ्रान्त समझने लगेगा।

यथार्थता का आधार

तब यह प्रस्तुत की जाने वाली सभी कलाओं में यथार्थता की शनाख्त के 'सत्य लगने' का मनोवैज्ञानिक आधार है। अपरिष्कृत भाव से यह माना जा सकता है कि "यथार्थता" नकल की जाने वाली वस्तु के प्रति दर्शक की मानसिक छाप की अनुरूपता ही है। परिभाषा के तौर पर यह कहा जा सकता है कि आत्मपरकता का परिवर्तित स्वरूप ही "यथार्थता" के प्रासाद की नींव है। यथार्थता के किसी विशिष्ट अंग की पूर्व कल्पना में भले ही कुछ भिन्नता हो और व्यक्तिशः यह भिन्नता होती है, प्रस्तुतिकरण में यथार्थता का यह आत्मपरक उपागमन शायद असन्तोषजनक और जोखिमपूर्ण लगे, किन्तु इस मापदंड से कोई बचाव भी नहीं है। अनुभवों का यह भंडार और पूर्व कल्पनाएं जो चित्रण में यथार्थता निर्धारित करती हैं--आखिरकार व्यक्तिगत हैं। सौभाग्यवश, नकल की जाने वाली कलाओं की यथार्थता के विविध अंगों में "प्रारम्भिक मतैक्य" रहता है।

जहां तक यथार्थता के भौतिक पक्ष का सम्बन्ध है, उनमें कोई ऐसी गम्भीर दिक्कत का सामना नहीं है। सत्य को जानने के लिये, कलाकार व चलचित्र निर्माता की प्रस्तुतिकरण की तकनीकी सक्षमता और यथार्थता के भौतिक धरातल को तनिक उग्रता एवं धीरता से देखने की आवश्यकता है।

असंख्य चलचित्र, विशेषकर भारतीय चलचित्र यह प्रमाणित करते हैं कि करनी से कथनी सुगमतर है। इनमें से अधिकतर को तो यह भी जानना है कि सामान्य वास्तविक जीवन वाले घर का एक विशिष्ट "रहन" का रूप होता है। ऐसे घरों में उधड़ और काने पड़ गये कालर वाले व्यक्ति, रोज़ के संघर्ष में--जिस में अधिकतम लोग उलझे हैं--साथ-साथ चलते हैं। फिर भी भौतिक यथार्थता के प्रस्तुतिकरण सम्बन्धी सैद्धांतिक समस्यायें गिनती में अधिक नहीं हैं।

शिल्पशाला में बने घर क्या कभी असली घरों के समान दीखते हैं ? शिल्पशाला का प्रकाश क्या कभी सूर्य के प्रकाश के समान लगा

compiled and created by Bhartesh Mishra

है? शिल्पशाला द्वारा निर्मित गलियां क्या किसी को भूखे बना सकी हैं? वृत्त चित्रों के कुछ पाठों का आत्मसार करने के बाद नव-यथार्थता ने 'शिल्पकला से कैमरा की विमुक्ति' जैसी समस्याओं का सुझाव दर्शाया है। सूर्य के प्रकाश में वास्तविक घरों, गलियों को चलचित्रित करने से किसी कृत्रिम दिखावे की चिन्ता करने की कोई आवश्यकता नहीं। 'बाइसिकल चोर' ने चोरी करके बेजोड़ ढंग से स्वयं को अमीर बनाना—यह और अन्य बातें—वास्तविक जीवन शिल्पशालाओं से बाहर ही स्थित है।

वास्तविक स्थितियों की आरम्भिक उत्पादिता में भी यह बात समझ में आ गयी है कि शिल्पशाला से कैमरा की विमुक्ति का कार्य पर्याप्त नहीं है। वे चलचित्र, जिनमें एक घटना भी सत्य पर आधारित नहीं लगभग पूर्णतया असली स्थानों पर ही बनाये गये हैं। वास्तव में ऊपरी असलियत कुछ काम नहीं करती। कुछ ऐसी जालसाजियां एवं घातक धोखे हैं जिन्हें चलचित्रों के निर्माताओं को जानना है और उनसे छुटकारा पाना है। सूर्य का प्रकाश वहाँ क्या करेगा जबकि आपका सम्बन्ध मानव के ऐसे हृदयक्षेत्र से है जो अन्धकारमय, संभ्रामित और दुविधाओं से परिपूर्ण है। वास्तविक स्थान एवं अव्यवसायिक अभिनेता शायद सहायक बन पड़ें किन्तु जो अत्यन्त अनिवार्य है वे तो हैं मानव सम्बन्धी स्थितियां।

चलचित्र निर्माताओं का सम्बन्ध

वास्तविकता से दूर, यह धातक बिचलन तभी पैदा होता है जब चलचित्रों के निर्माता काल्पनिक समस्याओं को ले बैठते हैं। भारतीय चलचित्रों के साथ प्रायः यही होता है। प्रथागत सोचने का ढंग, मनघड़न्त और पेचीदा समस्याओं में मन को उलझाये रखना—ये हैं कुछ कारण जिनसे भारतीय चलचित्र आडम्बरपूर्ण और निर्जीव से बन गये हैं। आवश्यकता है चलचित्रों में उन निर्माताओं के सम्बन्ध की जिन्होंने स्वयं समस्याओं को झेला है और वे व्यक्तिगत रूप में गम्भीरता से सोचते हैं और जिनका उन्हें कड़ा अनुभव भी है। यदि वे उन समस्याओं को जो उन के आन्तरिक विचारों में प्रतिध्वनित होती हैं, सुलझा पायें तो निश्चय ही वे अपने कार्य को अधिक आशावान बनकर, प्रेरणायुक्त हृदय से व तन्मयता से करेंगे। चलचित्रों में वास्तविकता लाने के लिये स्वयं निर्माताओं को ही उन्हें वास्तविकता से सुसज्जित करना पड़ेगा। दरअसल यह वास्तविकता वह नहीं जिसे वे अपने चारों ओर के संसार में स्थित कल्पित करते हैं बल्कि वह है जिसे अपनी अस्थियों में समाये हैं। वह तो उनके अन्तःकरणों में अन्तःप्रेरणा, आचार-व्यवहार, स्वप्न, भय, संशय और आह्लाद के रूप में अनूदित है।

भारतीय सामान्य चलचित्रों की लगभग पूर्ण अवास्तविकता का मुख्य कारण उनका अत्यन्त अवैयक्तिक चरित्र माना जा सकता है। उनका सम्बन्ध किसी से भी नहीं रहता क्योंकि वे किसी की भी मान्यताओं, भावनाओं का विशिष्ट रूप से प्रतिनिधित्व नहीं करतीं। जाहिर है कि उनमें दिखाई जाने वाली वस्तुओं का वैयक्तिक सम्बन्ध न पटकथा लेखक का, न संवाद लेखक का, न फोटोग्राफर और न निर्देशक का रहता है। इसपर भी यदि वे वास्तविकता की स्पर्शगोचर तोड़-मरोड़ करते हैं तो केवल इसलिये कि उनमें से कोई भी चलचित्र के वर्ण्यविषय के साथ अपना निजी सम्बन्ध महसूस नहीं करता। उन सबकी यही धारणा रहती है कि चलचित्र उनके अपने उपयोग के लिये न होकर, उन-से अतिरिक्त किन्हीं दूसरे लोगों के उपयोग के लिए है। भारतीय चलचित्रों के नीरस, निर्जीव एवं रोगग्रस्त होने का मुख्य एवं स्पष्ट कारण यह असम्बद्धता ही है। भारतीय चलचित्रों की चलचित्रिका पर एक विचित्र-सा हीन बोलापन हमें दिखता है, सो क्यों? कारण यह कि निदेशक जिसने चलचित्र का दृश्य बनाने की अनुमति दी है, उसने कभी महसूस नहीं किया कि वह अपने निजी जीवन में दृश्य की परिस्थितियों में आकर कैसे सामना करता। भारतीय चलचित्रों के निर्माता चलचित्रों में अपने जीवन को नहीं आंकते। उन सभी उपादानों का जो उन्हें ऐसा करने से रोकते हैं, परीक्षण किया जा सकता है किन्तु उससे पूर्व उन्हें अपनी भावात्मक और आध्यात्मिक स्तम्भित अवस्था का ज्ञान हो ही जाना चाहिये।

चलचित्र रचियता

चलचित्रों के निर्माता एकबार यदि अपने सृजनात्मक रोग को जान लें तो वे अनुभव करेंगे कि जिस वास्तविकता के अभाव के विषय में अथवा तोड़-मरोड़ के लिये वे दोषी समझे जाते हैं, उस दोष की खोज के लिये उन्हें कहीं दूर नहीं जाना पड़ेगा। वह तो उन के अपने ही पास, अपने ही भीतर, अपने ही सम्बन्धियों, मित्रों और शत्रुओं के संसार में, अपने ही विश्वासों और अभिरुचियों में और उनकी आत्मरक्षा में ढूंढा जा सकता है। ट्रूफैण्ट ने चलचित्र के निर्माता जो फिल्म रचयिता कहलाने का ही अधिकारी है—के विषय में कहा है कि वह तो एक ऐसा व्यक्ति है जो जीवन सम्बन्धी, जनता के विषय में, अर्थ और प्यार के सम्बन्ध में अपने विचार निजी कार्य द्वारा परिचित कराने की आवश्यकता से प्रेरित है। भारतीय वास्तविक चलचित्र का भाग्य, जब कभी भी बदलना होगा, तो वह केवल चलचित्र लेखकों के द्वारा ही होगा। चलचित्रों के निर्माताओं को एटानिओनी की भावप्रवणता को समझना होगा। उसने एकबार कहा था कि आधुनिक चलचित्रों का सम्बन्ध इतना बाह्य पदार्थों से नहीं है। उनका सम्बन्ध आन्तरिक भावनाओं से अधिक है। वे ही हमें एक विशिष्ट कार्य करने की प्रेरणा देती हैं और किसी अन्य मार्ग की ओर अग्रसर होने से रोकती हैं। वस्तुतः चलचित्र का आधार हमारे अपने कार्य, हमारी अपनी सद्भावनाओं पर और अपने शब्दों पर ही है जिनका सम्बन्ध अपनी व्यक्तिगत परिस्थितियों के परिणाम पर है जिनमें हम इर्द-गिर्द के संसार से सम्बन्ध रखते हुए स्थित हैं। इंगमार बर्गमेन के शब्द भी चलचित्रों के निर्माताओं द्वारा स्तुत्य हैं जिसने कहा "मेरी चेतना में, बिना बलपूर्वक, चलचित्र द्वारा अभिव्यक्त करने की जो इच्छा प्रकट होती है वह पूर्णतया आत्मपरक रहती है"। फिर चलचित्र के सम्बन्ध में उसने कहा "यह एक इतना परिष्कृत उपकरण है कि जिसके द्वारा असीम ज्योति से मानव की आत्मा को ज्योतित किया जा सकता है और उसके मस्तिष्क के ऊपर छाये पर्दे को निर्दयता से परे फेंका जा सकता है। हम अपने ज्ञानक्षेत्र को एक नये प्रभाव क्षेत्र से अनुबद्ध कर सकते हैं।

वास्तविकता जीवन के लिए एक दर्पण है। बहुत समय से यह दर्पण हमारे चलचित्र निर्माताओं के पास है। उन्हें अब उस वस्तु की खोज करनी है जहां यह दर्पण रखे ताकि उनका परिश्रम सार्थक हो।

रूपांतर: राम मूर्ति कालिया

compiled and created by Bhartesh Mishra

भारतीय फिल्में :

आज की भारतीय फिल्मों की स्थिति पर विचार करने पर विस्तृत रूप से जो अद्भुत तथ्य हमारे सामने स्पष्ट होता है वह यह है कि भारतीय फिल्म उद्योग का सांस्कृतिक तकनीकी पिछड़ापन, पचहत्तर वर्ष पहले, जब मनुष्य ने अपनी आंखों के सामने प्रस्तुत किया गया प्रथम चलचित्र देखा था, जितना था आज भी, यदि उससे अधिक नहीं हुआ है तो, उतना ही बना हुआ है। एक बार में एक ही व्यक्ति को चलती-फिरती तस्वीरें दिखाने वाला एडिसन किनेटोस्कोप 1894 में बाजार में बिकने लगा था। 1895 में फिल्म प्रोजेक्टर का आविष्कार हो गया था और उस पर प्रस्तुत की गई फिल्मों को एक बार में एक ही दर्शक को नहीं अपितु बहुत से व्यक्तियों को एक साथ दिखाया जाता था। 1896 में इस प्रकार प्रोजेक्टर पर दिखाई गई फिल्में बम्बई में जनता को दिखाई जा चुकी थीं। भारतीय फिल्म उद्योग के इतिहासकार लिखते हैं "इस प्रकार प्रोजेक्टर पर दिखाए जाने वाले चलचित्रों से भारतीय दर्शकों का परिचय ब्रितानी, फ्रेंच और अमरीकी दर्शकों के समान ही उसी वर्ष में, न्यूयार्क शहर में कोस्टर और बियालस म्यूजिक हाल में एडिसन विटास्कोप के प्रथम सार्वजनिक प्रदर्शन (23 अप्रैल 1896) के तीन महीने से भी कम समय के बाद और पेरिस के ग्रैंड कैफे में (लुई और आगस्त ल्यूमियर भाइयों के) सिनेमेटोग्राफ के प्रथम प्रदर्शन के मुश्किल से छः महीनों के बाद ही हो गया था। इसके लगभग तुरन्त बाद ही बम्बई के सखाराम भटवाडेकर और कलकत्ता के हीरालाल सेन जैसे भारतीयों ने चलचित्र कैमरा खरीदे और फिल्मों का निर्माण किया। चलचित्र के माध्यम से कथा प्रस्तुत करने का प्रथम प्रयास 1903 में किया गया जब एडविन एस० पोर्टर ने 800 फुट लम्बे "दि ग्रेट ट्रेन राबरी" फिल्म बनाई। एक हजार फुट से अधिक लम्बाई के चलचित्र केवल 1911 के बाद ही बनने शुरू हुए, जिनमें से अधिकतर यूरोप महाद्वीप के देशों में बनाए जाते थे। लगभग इसी समय 1912 में इटली में 8,000 फुट लम्बी फिल्म "क्वो वाडिस" बनाई जा रही थी। 3,700 फुट लम्बा प्रथम भारतीय कथा-चित्र "राजा हरिश्चन्द्र" का निर्माण धुंडीराज गोविंद फालके ने, जो दादा साहेब फालके के नाम से अधिक लोकप्रिय हैं, बम्बई में किया। प्रथम सवाक् चित्र का निर्माण 1930 में हुआ। अगले ही वर्ष (14 मार्च, 1931 को) खान बहादुर अर्देशीर ईरानी द्वारा निर्मित भारतीय सवाक् चित्र "आलम आरा" प्रदर्शित हुआ। भारतीय फिल्म में प्रथम गीत का समावेश करने का श्रेय भी "आलम आरा" को ही था। इस काल तक भारतीय फिल्म उद्योग विश्व फिल्म उद्योग में हो रहे विकास के साथ-साथ चलता रहा। प्रारंभिक भारतीय फिल्म प्रवर्तकों की सजगता का उदाहरण फालके ने दिया था जिन्होंने "तकनीकों की विस्तृत क्षेत्र की खोज की जिसमें सजीवता भी शामिल थी [illegible] रंग भर कर रंगीन चित्र बनाने का प्रयोग किया——————अनेक दृश्यों के लिए नाटकीय

compiled and created by Bhartesh Mishra

तब और अब

सुभाष चन्द्र सरकार

प्रतिमान का इस्तेमाल किया जिसमें लंका दहन भी शामिल था जिसके लिए उन्होंने पूरे आकार के दो दृश्य भी जला डाले थे।" तथापि उस समय के पश्चात् भारतीय फिल्म उद्योग अंतर्राष्ट्रीय तकनीकी उन्नति के क्षेत्र में हुए विकास के साथ अपनी गति बनाए रखने में असफल रहा। यद्यपि भारत में कई रंगीन चित्र बन चुके हैं फिर भी अभी इस देश में तीन आयाम वाले चित्रों का निर्माण होना बाकी है। इस तथ्य का विचार करने पर यह और भी उल्लेखनीय हो जाता है कि भारत में इस उद्योग का प्रारम्भिक विकास एक अविकसित देसी औद्योगिक संभावना के संदर्भ में हुआ था और सवाक फिल्म में प्रारंभ के बाद से गत चालीस वर्षों के दौरान भारत में भारी औद्योगिक वैविध्य और आर्थिक परिवर्तन हुआ है।

संरचनात्मक परिवर्तन

यदि गत पचहत्तर वर्षों के दौरान फिल्म उद्योग के विकास का कोई सिंहावलोकन करे तो वह इस उद्योग में हुए संरचनात्मक परिवर्तन को देखेगा जो पाल रोथा की भाषा में "अब छोटे उद्यमकर्त्ताओं का निश्चित निवेश नहीं रहा" बल्कि करोड़ों की लागत वाला उद्योग बन गया है, यह बड़े पैमाने पर लोक रुचि में जुआ खेलना है और अनिवार्यतः यह उन्हीं तक सीमित रह गया है जो अन्य बड़े-बड़े अंतर्राष्ट्रीय उद्योगपतियों का नियंत्रण करते हैं। भारतीय फिल्म उद्योग भी इसका अपवाद नहीं रहा है। सर्वप्रथम भारतीय कथा चित्र राजा हरिश्चंद्र के निर्माण में फालके ने केवल 15,000 रुपए खर्च किए थे। आज उस राशि में उतनी ही लम्बी कोई फिल्म बनाने के बारे में सोचा भी नहीं जा सकता। इस विकास का एक परिणाम यह हुआ है कि आमतौर पर फिल्में इस प्रकार की बनाई जाती रही हैं कि उनसे लोक सद्भाव और शिक्षा की अपेक्षा अधिक धन अर्जित किया जा सके। पाल रोधा का यह कथन है कि "लोक शिक्षा के माध्यम के रूप में चलचित्र की पूरी संभावना की इस उद्योग के नियंत्रकों ने अधिक धन कमाने के अपने लक्ष्य में अवहेलना की है" भारतीय फिल्म उद्योग के लिए भी उतना ही सही है। सिनेमा के सामाजिक उत्तरदायित्व के प्रश्न पर विचार करते समय चलचित्र जांच समिति 1951 ने भारतीय निर्माताओं के रुढ़िवाद की कटु आलोचना की। समिति ने देखा: "यह दृष्टिकोण जनता के मनोरंजन के संबंध में उनकी उथली भावना का और उन निष्कर्षों की तथाकथित अवहेलना का परिणाम है जो जुटाए गए मनोरंजन के प्रकार से उत्पन्न होते हैं। हमारी दृष्टि में इस उत्तरदायित्व का निर्वाह उन तत्वों का बहिष्कार करने की नकारात्मक ऐहतियात से भी नहीं हो सकता है जो हानिकारक सिद्ध हो सकते हों। उत्तरदायित्व का साधन सकारात्मक, रचनात्मक और स्वस्थ होना जरूरी है।" इस बात का कोई संकेत नहीं मिलता कि समिति की डांट-डपट का फिल्म उद्योग पर उसके सामाजिक उत्तरदायित्व के प्रति अधिक सजगता उत्पन्न करने में कोई प्रतिक्रिया हुई हो। फिल्म सेंसर-व्यवस्था

compiled and created by Bhartesh Mishra

संबंधी जांच समिति ने जिसने 1969 में अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत की, लिखा है: "फिल्मों के निर्माता कानून की सीमा में अपना कारोबार चलाने का दावा करते हैं। वे उस प्रकार की फिल्मों का निर्माण किए चले जाते हैं जो जनसमुदाय की निम्न रुचि के अनुकूल होती है और केवल इस बात का ध्यान रखते हैं जो कुछ वे बना रहे हैं वह कानून की दृष्टि में अश्लील अथवा अनैतिक न हो---।" इस उद्योग से संबद्ध कुछ अन्य लोगों के ध्यान में भी यह बात आई है। "भारत का फिल्म उद्योग" (Film Industry of India) नामक पुस्तक की अपनी भूमिका में 1963 में बी० के० आदर्श लिखते हैं: "हमारा फिल्म उद्योग बिखरे हुए ढेरों और अलग-अलग व्यक्तियों का एक संचित और अव्यवस्थित समूह है। जिस किसी का भी फिल्मों से जरा भी संबंध है वह अपने को स्वतंत्र समझता है। प्रत्येक निर्माता स्वयं अपने आप में ही एक कानून है। किन्तु याद रखना चाहिए कि जो भी पूरी तरह से स्वतंत्र होता है वही सबसे अधिक परतन्त्र भी होता है।"

वृत्त-चित्र और समाचार-चित्र

कम से कम वृत्त चित्रों का विकास पश्चिम में जल्दी ही हो गया था, किन्तु भारत में नहीं हुआ था। तीस वर्ष से भी अधिक समय पूर्व किसी लेखक ने देश में समाचार चित्रों और वृत्त-चित्रों के विकास के अभाव के प्रति खेद प्रकट किया था। ऐसा प्रतीत होता है कि यदि तत्कालीन सरकार प्रत्येक सिनेमा में उनको दिखाना अनिवार्य करने के लिए ही सहमत हो जाती तो उन दिनों भी भारतीय चलचित्र उद्योग में एक वर्ग ऐसा था जो समाचार चित्रों के निर्माण का बीड़ा उठाने को तैयार था। स्पष्ट रूप से ब्रितानी सरकार से कोई संतोषजनक प्रत्युत्तर प्राप्त नहीं हो रहा था, यद्यपि स्वयं ब्रितानिया में ही बहुत पहले 1927 में सभी ब्रितानी चलचित्रों को ऐसा अधिकार देने वाला कानून पास किया गया था। अंततोगत्वा द्वितीय विश्वयुद्ध के आपात् काल ने भारत सरकार को "भारतीय समाचार चित्र" (इन्फोरमेशन फिल्म आफ इंडिया) नामक संगठन द्वारा वृत्तचित्रों को प्रवर्तित करने के लिए प्रेरित किया। 1945 में युद्ध समाप्त होने के तत्काल बाद ही 1946 में इस संगठन को भंग कर दिया गया। भारत सरकार के वर्तमान फिल्म प्रभाग का जन्म, जिसने वृत्तचित्रों और समाचार चित्रों के निर्माण में विशेष प्रतिष्ठा प्राप्त की है, राष्ट्रीय सरकार बनने के बाद 1947 में हुआ ? संभवतः यह कहना पूरी तरह से सार्थक होगा कि विशुद्ध वृत्त चित्रों को अपने आविर्भाव के लिए देश के स्वतंत्र होने तक प्रतीक्षा करनी पड़ी।

यह असामान्य नहीं था कि इन परिस्थितियों में शैक्षिक फिल्मों और सौंदर्यपरक मूल्यों की फिल्मों की हानि हुई। इनके संबंध में उद्योग के दृष्टिकोण में स्वतंत्रता से भी कोई परिवर्तन नहीं आया। सत्यजित रे की 'पाथेर पांचाली' के पूर्व देश में बनाई गई उच्च सौंदर्यपरता मूल्य की फिल्म का एकमात्र उदाहरण प्रसिद्ध नर्तक उदयशंकर द्वारा निर्मित और 1948 में प्रदर्शित 'कल्पना' थी। यद्यपि कलकत्ता में यह 27 सप्ताह तक चलती रही तो भी कोई उदयशंकर का अनुकरण करने के लिए आगे नहीं बढ़ा। इसके विपरीत अनेक आडंबरपूर्ण फिल्मों का निर्माण किया गया है, हालांकि उनके निर्माण पर भारी खर्चा हुआ है। प्रथम उल्लेखनीय भव्य चलचित्र 'चंद्रलेखा' था जिसका निर्माण अभूतपूर्व भारी लागत पर एस० एस० वासन ने किया था और जो 1948 में प्रदर्शित हुई थी। निस्संदेह, इन चलचित्रों का अपना तर्क था। वासन के शब्दों में, "जब मैंने अव्वैयार की योजना बनाई थी तो मेरा विचार उसे किसी भव्य प्रदर्शन का माध्यम बनाने का नहीं था। मेरी इच्छा तो केवल यह थी कि मैं तमिलनाडु के सांस्कृतिक इतिहास का उसके गौरव के स्वर्णकाल में समावेश करके एक श्रेष्ठ (क्लासिक) चित्र बनाऊं। किन्तु शीघ्र ही मैंने अनुभव किया कि इस विषय के प्रतिपादन ने अनिवार्य रूप से अव्वैयार के सम्मान में हुए राजकीय स्वागत में भव्य तत्वों को प्रस्तुत करने के लिए प्रेरित किया और यह स्वागत शाही पैमाने पर ही होना जरूरी था। नायिका की उत्कट प्रार्थना के प्रत्युत्तर में धरती माता को फटना पड़ा। ----------'अव्वैयार' से भिन्न, 'चंद्रलेखा' की रूपरेखा जानबूझ कर ही भव्य प्रदर्शनीय चित्र के रूप में बनाई गई थी।

कलात्मक फिल्मों के निर्माण में बाधाएं

कलात्मक फिल्मों के निर्माताओं और निदेशकों की प्रमुख कठिनाइयों में से एक वितरकों और प्रदर्शकों का विरोध भी रहा। इस संबंध में पहले की तुलना में अब भी कोई परिवर्तन नहीं हुआ है। 1939 में फजलभाई नामक एक व्यक्ति ने लिखा था: "वितरक जो जोखिम उठाता है--- व्यवहारतः शून्य होता है, किन्तु वह लाभ का यथासंभव अधिकतम अंश ले लेता है जो निर्माता के अंश से कहीं अधिक होता है। भारतीय फिल्म उद्योग के इतिहास में वितरण फर्मों की असफलता का शायद ही कोई उदाहरण आया हो, जबकि निर्माताओं की असफलता इतनी सामान्य बात ही है कि उस ओर किसी का ध्यान भी नहीं गया। यह स्थिति निश्चय ही दुर्भाग्यपूर्ण है क्योंकि वितरक-धन-वित्तदाता भारतीय फिल्म उद्योग का मुख्य कारक रहा है। इकत्तीस वर्ष बाद प्रमुख फिल्म पाक्षिक को निम्नलिखित शब्दों में शोक प्रकट करना पड़ा: "राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर प्रशंसित 'भुवन शोम' जैसी फिल्म का प्रदर्शन कार्यदिवसों पर प्रातःकालीन शो में ही हो सका और वह भी फिल्मी राजधानी में, इस तथ्य से पता चलता है कि जिन लोगों पर हमारी जनता को मनोरंजन प्रदान करने का भारी उत्तरदायित्व है उनमें अवश्य ही कोई गंभीर दोष है। दर्शकों की पसंद और नापसंदगी प्रदर्शकों और वितरकों का नियंत्रण करती है यह बात इस मामले में अमान्य लगती है क्योंकि 'भुवन शोम' कलकत्ता में खूब चली है और बम्बई में भी इसने हुई आय कार्य दिवसों के किसी प्रातःकालीन शो से अपेक्षित आय के बराबर ही रही है।" इस विषय में और अधिक टीका-टिप्पणी की आवश्यकता नहीं है।

निस्संदेह भारतीय फिल्म उद्योग सभी दृष्टियों से स्थिर नहीं रहा है और उसमें निश्चय ही कुछ परिवर्तन हुए हैं। किन्तु इन परिवर्तनों से भारतीय फिल्म-निर्माण के कुल स्वरूप में कोई अंतर नहीं आया है। तीसरे दशक में जब चतुरलाल शाह अपनी सामाजिक फिल्म बना रहे थे तब फिल्मी सितारे आज की

compiled and created by Bhartesh Mishra

आपुर संसार–निर्माता और निर्देशक सत्यजित रे

अपराजितो–निर्माता और निर्देशक सत्यजित रे

compiled and created by Bhartesh Mishra

रिटेन एण्ड कं० का हैडमास्टर निर्देशक अग्रगामी

माटी बन गई सोना

compiled and created by Bhartesh Mishra

प्रभात फिल्म कंपनी का राम शास्त्री निर्देशक गजानन जागीरदार

गुरुदत्त फिल्म्स का साहिब बीवी और गुलाम निर्देशक अबरारअल्वी

compiled and created by Bhartesh Mishra

लाईट आफ एशिया निर्देशक फ्रांज ओस्टेन और हिमांशु राय

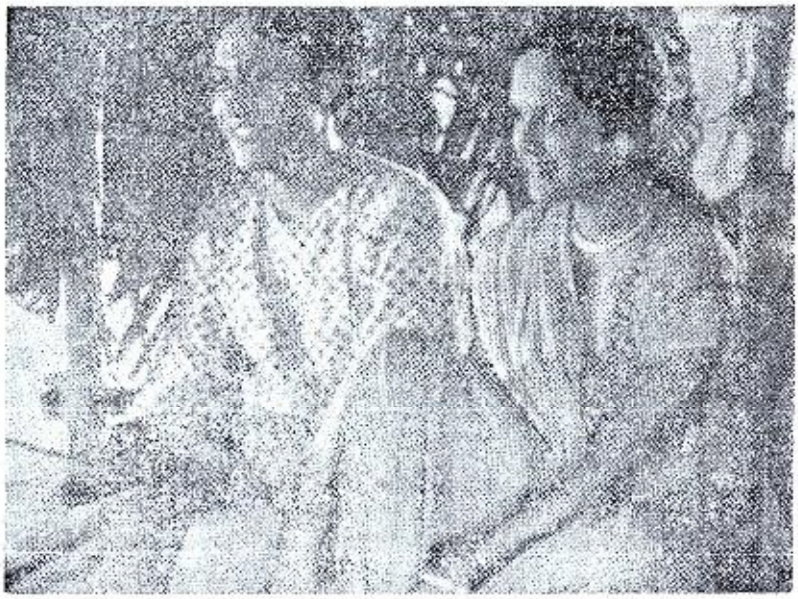

अछूत कन्या निर्देशक फ्रांज ओस्टेन निर्माता हिमांशु राय

compiled and created by Bhartesh Mishra

भांति स्वतंत्र रूप से कार्य नहीं करते थे। चौथे दशक में एक अभिनेता अधिक से अधिक 3,000 रुपए प्रतिमास कमा सकता था जबकि इस क्षेत्र में आने वाले नए अभिनेता को लगभग 60 रुपए मिलते थे। युद्धोत्तर काल में यह राशि पांच लाख या उससे भी अधिक हो गई। यही नहीं फिल्मी सितारों को की जाने वाली अदायगियों में ब्लैक मार्केट भी होने लगी है।

फिल्मों में स्त्रियां

फिल्म स्वयं ही सामाजिक उत्पाद होने के कारण सामाजिक परिवर्तनों के प्रति अत्यधिक प्रतिक्रियाशील है। पर्दे और मंच पर नर-नारी के नग्न शरीरों को देखने के पूरी तरह अभ्यस्त न रहने वाले आठवें दशक के फिल्म दर्शक यह जानकर निश्चित रूप से आश्चर्यचकित रह जाएंगे कि केवल 58 वर्ष पूर्व, प्रथम भारतीय कथा-चित्र में नायिका की भूमिका किसी स्त्री ने नहीं अपितु एक नवयुवक ने अदा की थी। उस युवक का नाम सालुंके था जो उससे पूर्व एक रेस्तोरां में रसोइये का काम करता था। वस्तुतः उसने "लंका दहन" नामक एक ही चित्र में राम और सीता की दोहरी भूमिका निबाहने का गौरव प्राप्त किया था। यह बहुत पुरानी बात नहीं है। जब भारतीय नारी ने फिल्म निर्माण में भाग लिया; क्योंकि फालके के दूसरे कथा चित्र "भस्मासुर मोहिनी" की नायिका एक महाराष्ट्रीय महिला कमला फालके ने उनकी अपनी ही पुत्री मंदाकिनी को भी 1919 में "कालीय दमन" में बाल कृष्ण की भूमिका करने के लिए प्रेरित किया था। प्रारंभिक महिला सितारों में अनेक अर्ध फैशनेबुल समाज से आई थीं, हालांकि, जैसा कि फालके की पुत्री ने भाग लेकर सिद्ध कर दिया था, अन्य महिलाएं भी फिल्मी दुनिया के आकर्षण से अपने को मुक्त रखने में पीछे नहीं रहीं। यह सच है कि प्रारंभिक फिल्मी अभिनेत्रियों में से अधिकतर उच्चशिक्षा प्राप्त नहीं थीं। किन्तु यह स्थिति अब बदल गई है। सुशिक्षित और प्रतिष्ठित परिवारों के अनेक व्यक्ति ; जिनमें काफी संख्या में लड़कियां भी हैं, केवल फिल्मों में अभिनय ही नहीं करने लगे हैं अपितु निर्माता और निर्देशक भी बन गए हैं और इससे उन्होंने स्टुडियो के वातावरण को सुधारने में बहुत बड़ा योग दिया है।

फिल्म उद्योग के विकास की प्रारंभिक अवस्थाओं की विशेषता पौराणिक फिल्मों और स्टंट फिल्मों की प्रचुरता थी जो आंशिक रूप में पाश्चात्य विकासों की अनुकरणात्मक प्रतिक्रिया का प्रतिनिधित्व करती थी और आंशिक रूप में भारतीय दर्शकों की सहज आकांक्षाओं की पूर्ति करती थी। 1920 तक भारतीय फिल्म-जगत में सामाजिक विषयों का प्रवेश हो चुका था जैसा कि 1921 में धीरेंद्र गांगुली के चटपट हास्य चित्र "इंगलैंड रिटर्नड" में देखा जा सकता था। यह चित्र वित्तीय दृष्टि से उल्लेखनीय सफल सिद्ध हुआ। इसके बाद उन्होंने अनेक फिल्मों का निर्माण किया जिनमें "दि स्टैप मदर" भी शामिल थी। 1925 में चंदूलाल जे० शाह ने "गुण सुंदरी" (पति पथभ्रष्ट क्यों होते हैं) का निर्माण किया जिसमें मिस जौहर ने मुख्य भूमिका निबाही थी। इस फिल्म को "भारतीय सामाजिक चलचित्र के उद्भव में महत्वपूर्ण कहा गया है। अब हमें इन दोनों तत्वों का मिश्रण मिल रहा है। इन सामाजिक फिल्मों की प्रकृति के बारे में सुविख्यात निर्देशक सत्यजित रे कहते हैं; "मुझे इस बात में बहुत अधिक संदेह है कि भारतीय चलचित्र जनसाधारण की आवश्यकता की पूर्ति करने में जरा भी समर्थ हुआ हो क्योंकि फिल्मों में, विशेषकर बम्बई की फिल्मों में अत्यधिक समृद्धि थी चित्रण रहता है। एक अन्य प्रसिद्ध निदेशक की बंगला चलचित्र की वर्तमान अवस्था के संबंध में यह टिप्पणी है कि "आज की फिल्म पहले की फिल्मों की तुलना में अधिक सामाजिक सजगता का चित्रण करती हैं पहले सामाजिक सजगता लगभग पूरी तरह से क्षेत्रीय होती थी जब कि अब उसमें सार्वभौमिक आकर्षण रहता है।"

भाषागत दृष्टिकोण से भारतीय स्थिति एक महाद्वीप की स्थिति का प्रतिनिधित्व करती है। किसी भी व्यक्ति के लिए भारत के साहित्यिक कलागत अथवा फिल्म संबंधी प्रगतियों का सामान्यीकरण करने का प्रयास खतरनाक ही नहीं बल्कि असंभव है। किन्तु कुछ ईमानदारी के साथ यह कहा जा सकता है कि कुल मिलाकर तीसरे दशक में जब अन्य निर्माता पौराणिक चित्र बनाने में ही लगे हुए थे फिल्म-निर्माण के क्षेत्र में धीरेंद्र गांगुली की हास्यपूर्ण मूक फिल्म के साथ जो यथार्थवादी परम्परा प्रारंभ हुई थी उसे कलकत्ता के बंगला निर्देशकों और निर्माताओं ने बनाए रखा है जबकि बम्बई में और बाद में मद्रास में, जो कलकत्ता के स्थान पर फिल्म-निर्माण-केन्द्र बन गया है, उनके प्रतिस्पर्धियों ने, अपनी बनाई फिल्मों के कथानक के रूप में यथार्थ की अधिकांश अवहेलना ही की है। किन्तु 1949 में बनी 62 बंगला फिल्मों की तुलना में 1949 में बनी 62 बंगला फिल्मों की संख्या प्रतिवर्ष बीस से भी कम हो गई जबकि हिन्दी फिल्मों की संख्या न्यूनाधिक 150 पर ही स्थिर रही। यह बात राजनीतिक स्वतंत्रता के गत दो दशकों में भारत में बनी फिल्मों के कथानक मूल्य में हुए सापेक्ष ह्रास का प्रतिनिधित्व करती है।

रूपांतर : कुसुम बंसल

compiled and created by Bhartesh Mishra

करने के लिए एक व्यावसायिक वातावरण पैदा करने में सहायता मिली ।

अगस्त, सन 1961 में फिल्म संस्थान के तत्वाधान में नियमित पाठ्यक्रम का प्रारंभ हुआ । शुरू में फिल्म-लेखन चलचित्र-कला, निर्देशन के सिद्धान्त, सम्पादन एवं स्वर अनुलेखन, स्वर-अभियंत्रण में पाठ्यक्रम संचालित किये गए और फिर 1963 से उच्च निर्देशन और फिल्म-अभिनय भी पाठ्यक्रम में जोड़ दिये गए । संस्थान को प्रारंभिक कठिनाई की अवधि से गुजरना पड़ा जिनमें इसने छात्रों द्वारा निर्मित फिल्मों की निर्माण-पद्धति के अतिरिक्त उचित पाठ्यक्रम और विस्तृत शैक्षणिक कार्य को विकसित किया । उसमें योग्य अध्यापकों को प्राप्त करने में कठिनाइयां उपस्थित हुईं । यद्यपि अध्यापक रखने की अनुमति मिल चुकी थी, फिर भी लम्बी अवधि तक उनकी पूर्ति नहीं हो सकी । इसलिए संस्थान ने फिल्म-जगत के पारंगत कलाकारों से सहयोग प्राप्त किया, जो समय-समय पर संस्थान में आते थे और अतिथि अध्यापकों के तौर पर प्रशिक्षण देते थे । संस्थान ने विश्व के अन्य फिल्म संस्थानों के अनुभवों का भी उपयोग किया । समय-समय पर पेरिस, मास्को एवं लांज के संस्थानों के अध्यापक भी यहां आते रहे । यह संस्थान अन्तर्राष्ट्रीय सिनेमा और टेलीविजन स्कूल-सम्पर्क-केन्द्र का भी सदस्य है । उससे संसार के सभी प्रमुख फिल्म संस्थान सम्बद्ध हैं । इस प्रकार, यहां निरन्तर दूसरी संस्थाओं से शैक्षणिक मामलों पर विचार का निरन्तर आदान-प्रदान होता रहा है ।

पिछले नौ सालों में संस्थान ने अपने विभिन्न पाठ्यक्रमों के अन्तर्गत शैक्षणिक कार्यक्रम को निश्चित और निर्धारित किया है । संस्थान के पुस्तकालय में सामान्य रुचि की पुस्तकों के अतिरिक्त सिनेमा और उससे सम्बद्ध कलाओं पर चुनी हुई पुस्तकें भी हैं । सभी विद्यार्थियों को समुचित प्रशिक्षण देने के लिए सिने-कला स्वरांकन, संपादन एवं फिल्म-प्रक्रिया विषयों पर नवीन सामग्री समय-समय पर प्राप्त की गई है । पूर्ण व्यावहारिक प्रशिक्षण देने के लिए संस्थान में पर्याप्त सुविधाएं सुलभ हैं । इसके परिणाम-स्वरूप वर्ष-प्रतिवर्ष इस संस्थान के स्नातकों की योग्यता बढ़ती जा रही है । यह बात उनके द्वारा निर्मित फिल्मों से भलिभांति स्पष्ट है । विदेशों से आए विख्यात फिल्म निर्माताओं और फिल्म अध्यापकों को, जो संस्थान को देखने आते हैं, का कहना है कि इस संस्थान की फिल्मों की तुलना विश्व में अन्यान्य फिल्म-संस्थानों की फिल्मों के साथ भलीभांति की जा सकती है । समय-समय पर इस संस्थान के छात्रों द्वारा बनाई गई फिल्मों ने छात्र-फिल्मों के अन्तर्राष्ट्रीय समारोहों में पुरस्कार प्राप्त किये हैं, जिससे पता चलता है कि उनकी ये फिल्में दुनियां की ऐसी फिल्मों से मुकाबला कर सकती हैं ।

गहन प्रशिक्षण-कार्यक्रम

स्कूलों और कालेजों से निकलकर विद्यार्थी इस फिल्म संस्थान में प्रवेश ग्रहण करते हैं । दो या तीन वर्ष के प्रशिक्षण के पश्चात् वे पेशेवर कलाकार के रूप में परिणत करते यह योजनाबद्ध और गहन प्रशिक्षण कार्यक्रम के द्वारा संभव है । विगत वर्षों में शिक्षण पद्धतियां समुचित रूप से विकसित की गई हैं । फिल्म-निर्माण की प्रक्रिया अत्यन्त ही जटिल है । उसी प्रकार इसके शिक्षण में भी बड़ी ही पेचीदगी है । अपने विशिष्ट क्षेत्र में विस्नात होने के साथ-साथ प्रत्येक विद्यार्थी को फिल्म-निर्माण की पूर्ण प्रक्रिया का पर्याप्त ज्ञान प्राप्त करना पड़ता है, ताकि छात्रों की फिल्म-इकाई के अन्य सदस्यों के साथ अपना योग दे सकें । फिल्म निर्माण की वास्तविक प्रक्रिया में साथ-साथ काम करने के लिए और छात्र-फिल्म एकांशों के सदस्य होने के नाते सभी विद्यार्थियों को विशेष जानकारी देने वाले ऐसे एक कार्यक्रम में भाग लेना पड़ता है, जिससे उनका फिल्म-निर्माण की सम्पूर्ण प्रक्रिया से परिचय हो जाता है और तत्पश्चात् वे अपने-अपने क्षेत्रों में विशेषज्ञता प्राप्त करते हैं । उनके प्रशिक्षण-काल में प्रारंभ से ही व्यवहारिक कुशलता पर बल दिया जाता है । ज्यों-ज्यों प्रशिक्षण समाप्ति की ओर अग्रसर होता, त्यों-त्यों सैद्धान्तिक शिक्षा अनुपातत: कम होती जाती है और अन्तिम वर्ष तक आकर विद्यार्थी केवल मात्र व्यावहारिक फिल्म निर्माण में पूरा समय देते हैं । इसके परिणामस्वरूप विद्यार्थी न केवल तकनीकी ज्ञान प्राप्त करते हैं, बल्कि पेशेवर कलाकार बनकर बाहर जाने का आत्मविश्वास भी ग्रहण करते हैं । छात्र-फिल्म-निर्माण का कार्यक्रम कितना विस्तृत है, इसका पता इस तथ्य से हो जाता है कि अन्तिम वर्ष में प्रत्येक विद्यार्थी एक "डौक्यूमेन्टरी" और एक "डिप्लोमा फिल्म" बनाता है । इनके अतिरिक्त अभिनय-कार्यक्रम के विद्यार्थियों के लाभार्थ दो लघु वृत्त-चित्र भी बनाए जाते हैं ।

संस्थान स्नातकों में न केवल तकनीकी और कलात्मक कौशल का विकास करता है, अपितु इससे कुछ अधिक भी करता है । प्रयत्न यह रहता है कि विद्यार्थी अपनी क्षमताओं से परिचित हो और अपने सर्जनात्मक अन्त:स्रोतों से सम्पर्क स्थापित करें । इस तरह के विकास-कार्य में जड़ात्मकता नहीं होती । औपचारिक कक्षाओं में प्रारंभिक शिक्षण के बाद अवबोधकीय (ट्यूटोरियल) उद्योगशाला और संगोष्ठियों पर बल दिया जाता है, जहां विद्यार्थी अपनी प्रतिभा के अनुसार विकास करने का उचित मार्ग-दर्शन प्राप्त करता है । सर्वांय कार्य पर भी अवधान दिया जाता है ।

कथ्य का ज्ञान

तकनीकों का ज्ञान आवश्यक है, परन्तु उससे कहीं अधिक कथ्य का ज्ञान महत्वपूर्ण है । यह खासतौर पर लेखकों और निर्देशकों के लिए अनिवार्य है । लेखकों और निर्देशकों के लिए निर्धारित कार्य-क्रम में समसामयिक समाज के सभी—सामाजिक, आर्थिक और राज-नैतिक पहलुओं के निरीक्षण में गहन प्रशिक्षण प्रदान किया जाता है । निरीक्षण से अभिप्राय केवल मात्र मशीन की तरह टिप्पणी-लेखन नहीं है, इसके विपरीत विद्यार्थियों को सोचने और महसूस करने के लिए प्रशिक्षित किया जाता है । प्रत्येक निरीक्षण से विचार और भाव उत्पन्न होते हैं । यह मूल्यवान कच्चा माल है, जिससे विद्यार्थी अपनी फिल्में बनाते हैं । ऐसे निरीक्षण-पर्यटनों का आयोजन इस प्रशिक्षण का अविभाज्य अंग है । विद्यार्थी शहरों और गांवों में विभिन्न मानवीय स्थितियों को देखते जांचते हैं । सत्यजीत राय का कहना है कि मूलत: सिनेमा-निर्माण का प्रशिक्षण निरीक्षण द्वारा अपनी संवेदनाओं का प्रशिक्षण है । विचार-संगोष्ठियां नियमित रूप से होती हैं, जहां विद्यार्थी अपने विचारों के अनुसार काम करना सीखते हैं । स्वावलम्बी और निष्ठावान लेखक और निर्देशक पैदा करना ही इसका मूल प्रयत्न है ।

आरंभ में प्रशिक्षण के दौरान, छात्र को इस बात के लिए प्रोत्साहित किया जाता है कि वह ऐसी रूपरेखा बनाए, जिससे वह

compiled and created by Bhartesh Mishra

फिल्म-निर्माताओं का निर्माण

जगत मुरारी

भारतवर्ष विश्व के सबसे बड़े फिल्म-निर्णायक देशों में एक है। यहां वर्ष में 367 से अधिक पूर्ण चित्र और करीब 2000 लघु चित्र तैयार किये जाते हैं। अच्छी फिल्मों की दृष्टि से भी भारत की कुछेक फिल्मों में अन्तर्राष्ट्रीय फिल्म-महोत्सव में अपना स्थान बना लिया है। अनेक महत्वपूर्ण निदेशकों विशेषकर, सत्यजीत राय की फिल्में दुनिया की मार्किट में काफी ख्याति प्राप्त कर चुकी हैं, फिर भी भारत के अधिकांश चलचित्रों के विरुद्ध बुद्धिजीवियों और फिल्म-आलोचकों ने आलोचना प्रस्तुत की है। ऐसा कहा गया है कि कुछ अपवादों को छोड़ कर भारतीय चलचित्रों में न तो भारतीयता पायी जाती है और न अच्छे सिनेमा के गुण ही। अधिकांशतया इनमें कथानक सूत्रों का प्रयोग होता है और पात्रों के विन्यास में जीवन्तता नहीं होती। इसमें न तो उद्देश्य का बोध होता है न ही सामाजिक प्रतिबद्धता का। हमारी अधिकांश फिल्मों में निर्मूलता और लक्ष्यहीनता का भाव निहित है। सर्वोपरि, यह माना जाता है कि हमारी फिल्में विशाल जनसमूह के मनोरंजन के उद्देश्य की पूर्ति तो करती है, पर न तो लोगों में ये सदप्रेरणा और उत्साह भर पाती हैं और न उसका दिशा-निर्देशन ही कर पाती हैं। बल्कि यों कहें कि भारतवर्ष चतुर्दिक रूप से अनेक संकटों की ओर बढ़ता जा रहा है। यहां के सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक क्षेत्रों में ऐसी नाटकीय अवस्थाओं का कोई अभाव नहीं है, जिन्हें चित्रित किया जा सके। इतना ही नहीं, विश्व में संभवतः सबसे अधिक सुन्दर और विचित्र दृश्य भारत में ही है। फिर भी, भारत में पर्दे पर दिखाए जाने वाले अधिकांश चलचित्र भारत के अलग-अलग सुन्दर पहलुओं का, उसकी कठिनाइयों, महिष्णुता और अन्ततः उन कठिनाइयों पर विजय का यथार्थ चित्रण नहीं करते।

दो दशक पूर्व श्री एस० के० पाटिल की अध्यक्षता में फिल्म-जांच-समिति ने चलचित्र जगत का एक सर्वेक्षण प्रस्तुत किया, जिसकी रिपोर्ट सन् 1951 में प्रकाशित हुई और उससे कहा गया कि भारतीय चलचित्र उद्योग ने अपनी प्रारंभिक अवस्था अर्थात् सन 1913 की अपेक्षा अधिक विकास किया है तथा इसकी कुछ फिल्मों की तुलना विश्व की श्रेष्ठ फिल्मों से की जा सकती है। अगर भारतीय चलचित्र-उद्योग को विश्व के फिल्मी स्तर को पारकर आगे बढ़ना है तो इस उद्योग में पूर्णतः प्रशिक्षित व्यक्ति का होना अनिवार्य है।

भारत का फिल्म संस्थान

आगे चलकर इस फिल्म जांच समिति ने फिल्म निर्माण के समस्त क्षेत्रों में प्रशिक्षण-हेतु एक फिल्म-संस्थान की स्थापना की सिफारिश की। फिल्म-जांच समिति की इस सिफारिश के मुताबिक सन् 1961 में पूना में भारतीय चलचित्र-संस्थान की स्थापना की गई---उस समय सौभाग्यवश प्रभात फिल्म कम्पनी के स्टूडियो का विक्रय हो रहा था और सरकार ने फिल्म-संस्थान के लिए उसे प्राप्त कर लिया। इससे एक बहुत बड़ा लाभ हुआ, न केवल इसलिए क्योंकि एक स्टूडियो की सम्पूर्ण रूप से सुविधा इसे उपलब्ध हो गई, बल्कि इसलिए कि संस्थान को पूर्णतः व्यावसायिक पीठिका प्राप्त हुई, जिससे प्रारंभ से ही उसकी विचार-भूमि सुचारु रूप से प्रभावित हुई "प्रभात फिल्म कम्पनी ने तीसरे और चौथे दशक की अवधि में कुछेक उत्कृष्ट चित्रों का निर्माण किया जैसे, "संत तुकाराम", "रामशास्त्री", "आदमी" और "पड़ोसी"। प्रस्तुत संस्थान ने उस व्यावसायिक स्टूडियो की जगह और महत्विशाले प्राप्त की, जिसने पहले कभी श्रेष्ठ फिल्मों का निर्माण किया था। इसमें उनका कार्य

compiled and created by Bhartesh Mishra

अपनी अपनी अनुभूतियों को सम्बद्ध कर सके। ये अनुभूतियां अधिक महत्वपूर्ण हो जाती हैं, जब वे संदर्भित और विश्लेषित हो जाएं। भारत का संविधान, जिसमें मूल अधिकार और निर्देशित सिद्धान्त निहित हैं, विद्यार्थियों को रूपरेखा के तौर पर पढ़ाया जाता है। छात्र अपने अनुभवों के प्रकाश में मूल अधिकारों और निर्देशित सिद्धान्तों को देखते और स्वयं ही परखते हैं कि वे अपने उद्देश्यों से कितनी दूर हैं। लगातार छात्र को सोचने के लिए प्रोत्साहित किया जाता है। लेखक और निर्देशक के रूप में वह प्रथमतः एक विचारक है, जो अपने विचारों को सिनेमा के माध्यम से सम्प्रेषित करता है। सिनेमा चित्रों और स्वरों की ऐसी भाषा है, जो अनुभूति को अभिव्यक्त करने के लिए संगठित की जाती है। लगातार छात्र को वातावरण से प्रभाव ग्रहण करने के लिए प्रशिक्षित सोचने-विचारने और अपने अनुभवों को मूर्त रूप प्रदान कर, सम्प्रेषित करने के लिए उकसाया जाता है। जैसा कि सत्यजीत राय ने कहा है—जीवन्त यथार्थ के साथ सम्पर्क अत्यावश्यक है।

फिल्म-शाहकारों का अध्ययन

फिल्म शाहकारों का अध्ययन प्रत्येक छात्र के लिए आवश्यक है। संस्थान में छात्रों को संसार की सर्वोत्तम फिल्में एक-एक कर प्रति सप्ताह दिखाई जाती हैं। इस प्रदर्शन से छात्रों को सिनेमा की तकनीकों और उसकी कला से सम्बन्धित अच्छी जानकारी उपलब्ध होती है, जिसे वे धीरे-धीरे अपनी प्रतिभा और निजी शैली के अनुसार हृदयंगम कर लेते हैं। यहां फिल्मों पर विचार-विमर्श किया जाता है और उस देश के, जहां उनका निर्माण किया जाता है—सामाजिक, और राजनैतिक संदर्भों से उन्हें आबाद किया जाता है। छात्रों को अभिनय, संगीत, छायांकन तथा रूपांकन जैसी अन्य कलाओं का भी प्रशिक्षण दिया जाता है। इससे निर्देशकों के जटिल और सर्वकला सम्पन्न व्यक्तित्व का निर्माण होता है। छात्र देश और विदेश के पेशेवर लोगों से विभिन्न क्षेत्रों में ज्ञानार्जन करते हैं। ये सम्पर्क बड़े महत्व के हैं, क्योंकि छात्र विभिन्न क्षेत्रों के नेताओं के सम्पर्क से प्रेरणा ग्रहण करते हैं। सत्यजीत राय जैसे फिल्म-जगत के प्रसिद्ध व्यक्ति के संस्थान में आने और विचार-विमर्श करने से नया उत्साह भर जाता है, जिसके दौरान संस्थान के कार्यकर्त्ता और छात्र परस्पर विचार-विमर्श द्वारा नयी जानकारी प्राप्त करते हैं। संस्थान में अन्य क्षेत्रों के भी बुद्धिजीवियों, चिन्तकों, समाजशास्त्रियों, अर्थशास्त्रियों, राजनीतिज्ञों और दार्शनिकों को भी छात्रों के सम्मुख भाषण देकर एवं उनका ज्ञान विस्तार करने के लिए आमंत्रित किये जाते हैं। प्रशिक्षण और ज्ञान की इन समस्त विधियों से छात्र को मार्ग दर्शन मिलता है। अब छात्र न केवल सिनेमा की कलाओं और तकनीकों में निपुण होता है, बल्कि इसमें सामाजिक चेतना और समष्टिमूलक 'दाय-बोध' भी होता है। वह अपने कार्य द्वारा लोगों का मनोरंजन करता है और उनकी ज्ञान वृद्धि करता है।

प्रशिक्षण से लाभ

प्रशिक्षण कार्यक्रम से कई लाभ हुए दिखते हैं। संस्थान के स्नातकों को उद्योग के सभी क्षेत्रों में, जिसमें वे प्रशिक्षण होते हैं, बड़ी आसानी से काम मिल जाता है। सिने उद्योग ने यह अनुभव किया है कि प्रशिक्षण से फिल्मों का स्तर बढ़ता और पुनः आर्थिक लाभ होता है। प्रशिक्षित व्यक्ति बड़ी कुशलता से दृश्यों के दोबारा दृश्यांकन या दोषपूर्ण अभिनय के कारण होने वाली क्षति में काफी कमी आ जाती है। उपकरणों और तकनीकों की बढ़ती हुई जटिलता और निरन्तर प्रयोगशीलता तथा फिल्म माध्यम के विकास से इस तथ्य का पता चलता है कि फिल्म का भविष्य प्रशिक्षित व्यक्तियों के हाथों में है। हालांकि स्नातकों ने 1964 से ही फिल्म उद्योग में प्रवेश किया है, लेकिन उनके कार्य की प्रशंसा होनी शुरु हो गई है। उदाहरण के लिए, एक पूर्ण वृत्त चित्र 'जन्मभूमि' को भावात्मक एकता सुदृढ़ करने वाली फिल्मों में सर्वश्रेष्ठ फिल्म के लिए सन् 1968 में राष्ट्रपति का पुरस्कार प्रदान किया गया। इसी तरह 'गांधीजी' पर बनाए गए एक दूसरे वृत्त चित्र को 1969 में भारत में आयोजित अन्तर्राष्ट्रीय फिल्म समारोह में सर्वश्रेष्ठ फिल्म के रूप में पुरस्कृत किया गया। छायांकन, स्वरांकन, अभिनय और सम्पादन में भी स्नातकों को अधिक से अधिक मान्यता मिल रही है। इससे एक नयी प्रवृत्ति स्पष्टतः लक्षित हो रही है। कई पुराने और सफल फिल्म निर्माताओं और फिल्म निर्देशकों ने अपनी फिल्मों में उन स्नातकों को लेना शुरु कर दिया है। कभी-कभी तो एकांश में संस्थान के स्नातकों की ही प्रधानता होती है। यह प्रयोग नए प्रकार की फिल्मों की ओर इंगित कर रहा है।

अभी तक संस्थान में मुख्यतया "डाक्यूमेन्टरी" और वृत्त-चित्रों पर ही प्रशिक्षण कार्य केन्द्रित रहा है। हाल ही में संस्थान ने अपने प्रशिक्षण कार्यक्रम को एक नयी दिशा में मोड़ने का निर्णय लिया है, जिससे उसमें कक्षाओं में प्रशिक्षण के लिए विशेषीकृत फिल्मों को तैयार करने का कार्य सम्मिलित किया गया है। इस क्षेत्रों में प्रयोग करना आरंभ हो गया है और इस तरह की फिल्मों के निर्माण के लिए नयी पद्धतियों का निर्माण किया जा रहा है।

अब तक की उपलब्धियों के मूल्यांकन के आधार पर कोई भी व्यक्ति निश्चयपूर्वक यह आशा कर सकता है कि प्रशिक्षित फिल्म निर्माता अपने देश के सिनेमाजगत में एक नये सिनेमा युग के अविभावक माने जायेंगे, जो स्वच्छ, सशक्त, सच्चा और तकनीकी दृष्टि से आधुनिक सिनेमा होगा और जो साहसपूर्वक सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक समस्याओं को चित्रित कर देश में एकता भाव पैदा करेगा। यह सब तभी संभव हो सकेगा, जब उन युवकों और युवतियों को प्रशिक्षण प्रदान किया जाएगा, जिनमें प्रतिभा, रुचि, सर्जनात्मक शक्ति, उत्साह और ऊर्जा होगी।

रूपान्तर: नन्दकुमार राय

compiled and created by Bhartesh Mishra

भारतीय फिल्में और सेंसर

गोपाल दास खोसला

प्रारम्भिक भारतीय फिल्मों के लिए सेंसर व्यवस्था की आवश्यकता नहीं थी । अधिकांश फिल्में धार्मिक या पौराणिक कथानकों पर आधारित हुआ करती थीं । यद्यपि ये फिल्में विभिन्न बौद्धिक स्तरों के दर्शकों का मनोरंजन किया करती थीं परन्तु उनके कथानक घटिया और अश्लील भावुकता से प्रेरित न होकर सम्मान और शक्ति से पूर्ण होते थे । उस समय सेंसर-नियम नहीं थे । प्रथम भारतीय चित्र सन् 1912 में बना था और नव फिल्म उद्योग शैशवावस्था में था और निर्माता इस नव आविष्कृत संचार और मनोरंजन के माध्यम का प्रयोग करने में झिझकते तथा सतर्कता बरतते थे । भारत में अधिकांश प्रदर्शित फिल्में हालीवुड या इंग्लैंड से मंगाई जाती थीं ।

उस समय सेंसर नियम नहीं थे हालांकि फिल्मों पर अनियमित और स्वैच्छिक नियंत्रण रखा जाता था ताकि अश्लील सामग्री के प्रकाशन से संबद्ध सामान्य दण्ड विधि का अतिक्रमण न हो । तब, शायद ही कोई फिल्म ऐसी बनती थी जिसे देखकर अत्यन्त सदाचारी व्यक्ति भी नाक-मुंह सिकोड़े । इसके विपरीत विदेशी फिल्में हल्ले-गुल्ले वाली होती थीं और कभी-कभी उनका उद्देश्य-उत्तेजक दृश्यों का समावेश करके इन्द्रियों को पुलकित करना होता था । मुझे स्मरण है कि सन् 1917 में "मिरेन्स आफ दि सी" नामक फिल्म को देखने के लिए नवयुवक स्कूल छात्रों तथा युद्ध से अवकाश पर आए सैनिकों की भीड़ उमड़ पड़ी थी क्योंकि फिल्म में न्यूनावृत्त (अल्प वस्त्रधारी) तथा अर्धनग्न स्त्रियों के दृश्य थे ।

सार्वजनिक प्रदर्शन के योग्य फिल्मों को प्रमाण-पत्र देने से संबद्ध प्रथम नियम सन् 1918 में अधिनियमित किया गया था । इस अधिनियम (1918 का बलचित्र अधिनियम II) के पारित होने के बाद शीघ्र ही बम्बई, कलकत्ता, मद्रास और रंगून में सेंसर बोर्डों की स्थापना हुई । इन्हीं चारों स्थानों से देश में फिल्मों का आयात किया गया था । इनमें बम्बई सबसे अधिक महत्वपूर्ण था क्योंकि इसी बन्दरगाह से अधिकांश फिल्में गुजरती थीं । सन् 1920 में बम्बई के सेंसर बोर्ड ने एक सेंसर-संहिता बनाई जिसमें ब्रिटिश

compiled and created by Bhartesh Mishra

बोर्ड फिल्म सेंसर के द्वितीय अध्यक्ष डा० पी० जे० कोलूर द्वारा निर्धारित 43 नियमों के पैटर्न का अनुसरण किया गया था । कुछ सामान्य सिद्धान्त निर्धारित किए गए थे तथा आपत्तिजनक समझे जाने वाले विषयों की सूची जोड़ दी गई थी । आजकल प्रचलित सिद्धांत तथा आपत्तिजनक विषयों की सूची बहुत कुछ वैसी ही है ।

सन् 1920 की सेंसर-संहिता

सन् 1920 की सेंसर-संहिता का उद्देश्य भारतीय फिल्म निर्माता की स्वतंत्रता में कमी या नियंत्रण करने के बजाय भारतीयों को पश्चिमी देशों से आयात की गई फिल्मों में चित्रित अप्रतिष्ठाजनक पाश्चात्य जीवन देखने से वंचित करना था । भारतीय चलचित्र उद्योग मंद गति से विकसित हो रहा था । चलचित्र धीरे-धीरे अत्यन्त सस्ते और प्रत्येक के लिए सुलभ मनोरंजन का रूप लेता जा रहा था । परन्तु भारतीय फिल्म निर्माता घटिया या अश्लील विषयों का प्रदर्शन करने में एक जन्मजात या आत्मरोपित अनिच्छा का अनुभव करते थे । अतः सेंसर के दृष्टि-कोण में भारतीय फिल्में पूर्णतः नैतिक तथा आपत्ति रहित होती थीं ।

परन्तु ब्रिटिश शासक भारतीय जनता से ऐसी हर वस्तु दूर रखना चाहते थे जो ब्रिटिश जीवन के प्रति उपहास या घृणा उत्पन्न करती हो । भारतीयों को कुछ भी ऐसा नहीं देखना चाहिए जिससे उनकी दृष्टि में अंग्रेजों के मान में कमी हो । ऐसी आशंका थी फिल्मों में चित्रित ब्रिटिश लोकाचार से भारतीय जनता के मन में ऐसी धारणा बैठ सकती है कि अंग्रेजों में न कोई नैतिकता है और न ही उनकी संस्कृति आदरणीय है । 17 नवम्बर 1917 को प्रकाशित लंदन के वेस्ट मिनिस्टर गजट में यह आशंका निम्नलिखित शब्दों में व्यक्त की गई :

"भारतवासी की हमारे प्रति कटु घृणा का एक कारण भारत में चलचित्रों का विकास और उनका प्रदर्शन है । इंगलैंड में प्रदर्शित औसत चलचित्र देखने वाला दर्शक फिल्म को एक सनसनी खेज ड्रामें के रूप में देखता है जिसमें किसी के चरित्र में निश्चित रूप से कुछ न कुछ कमी होती है । वह एक रोमांचकारी परंतु असंभव काउबॉय (Cowboy) फिल्म देखता है । दर्शक को हमारे आश्चर्यजनक परिहास को देखने का अवसर मिलता है चाहे वह इसे पसंद करे या न करे, जैसे कि चार्ली चेपलिन का सोडा पीने की नलियों से भोले-भाले लोगों पर फुहार छोड़ना या अनेक खिड़कियों को तोड़ना ।

"अब ऐसी फिल्मों का पूर्वी देश के व्यक्ति के मस्तिष्क पर प्रभाव की कल्पना कीजिए । हमारी ही भांति भारतवासी भी फिल्म देखने जाते हैं वह न केवल फिल्म के साथ कथानक वरन वस्त्रों, रीतिरिवाजों और आचारों में अंतर से प्रभावित होता है । वह फिल्मों में हमारे यहां की महिलाओं को न्यूनावृत देखता है । वह हमारे बाल विनोद से चकित होता है जब कि उसके विनोद का स्तर अपेक्षाकृत अधिक उच्च तथा अधिक बौद्धिक होता है । जब वह रात्रि में बेवफा पत्नियों और अनैतिक पतियों के कृत्यों, आसानी से टूटने वाले वायदों तथा नियमों की अवहेलना के ड्रामें देखता है तो वह हमारे आचारों के बारे में अपनी ही धारणा बना लेता है । ये बातें उसके मस्तिष्क में उतरती चली जाती हैं और इसके जो परिणाम उसके चेहरे पर अंकित होते हैं उनसे हमें अचरज नहीं होना चाहिए ।

"भारत में अंग्रेजों को अपनी मान प्रतिष्ठा बनाए रखना तथा नैतिक नियमों को गौरव देना या लागू करना कठिन हो जाता है जबकि वह सिनेमा घरों में स्वयं अंग्रेजों को उनका उल्लंघन करते हुए देखता है ।"

भारत के लिए राज्य सचिव ने इस दिशा में तुरन्त कार्यवाही की और भारत में सेंसर नियमों को कठोर करने के निर्देश दिए ।

तब तक भारत में फिल्म उद्योग का विकास होने लगा था और प्रतिवर्ष अधिकाधिक भारतीय फिल्में बनने लगीं थीं । नई फिल्मों के कथानक पौराणिक कथाओं तक ही सीमित नहीं रह गए थे और भारतीय स्टूडियों में भी ऐसी कई फिल्में बनीं जो अमेरिका से इस देश में आयात की गई फिल्मों की स्पष्ट नकल थी । इस प्रकार भारतीय दर्शकों को भी साहसिक कहानियों सामाजिक सुखान्तों, प्रेमगाथाओं और पाश्चात्य प्रकार के हल्के-फुल्के वाली सुखान्त फिल्में देखने का अवसर मिलने लगा । इन सबका प्रभाव यह हुआ कि भारत में सेंसर व्यवस्था द्वारा दी गई ढील की यूरोपियों तथा भारतीयों द्वारा आलोचना की जाने लगी । यूरोपीय तो सोचते थे कि भारतीय अपने गोरे शासकों के प्रति कम आदर दर्शाने लगे हैं और भारतीयों ने यह चिंता व्यक्त की कि भारतीय फिल्मों के नैतिक आदर्शों में गिरावट आ गई है ।

1952 का चलचित्र अधिनियम

सैंसर व्यवस्था के सम्पूर्ण प्रश्न पर विचार करने के लिए सन् 1927 में एक जांच समिति नियुक्त की गई परन्तु इसकी सिफारिशें कार्यान्वित नहीं की गई । स्वतंत्रता के बाद 1918 के पुराने नियमों में संशोधन करने वाले दो अधिनियम पारित किए गए और अंत में समेकित अधिनियम के रूप में चलचित्र अधिनियम, 1952 सामने आया । यह अधिनियम अभी भी चालू है ।

फिल्म सैंसर की आज स्थिति यह है कि फिल्म सैंसर का एक केन्द्रीय बोर्ड है परन्तु नई फिल्मों के प्रदर्शन के बारे में प्रारम्भिक निर्णय जो अधिकांश उदाहरणों में निर्णायक होते हैं, एक ऐसे गैर-सरकारी सदस्यों के पैनल द्वारा लिए जाते हैं जिनके सभी सदस्यों में पर्याप्त कलात्मक और सौन्दर्य बोधी पृष्ठभूमि अक्सर नहीं होती तथा वे फिल्म माध्यम को भलीभांति समझ भी नहीं पाते । फिल्मों का वर्गीकरण या तो सार्वजनिक प्रदर्शन के लिए अथवा वयस्कों के लिए किया जाता है । सैंसर-संहिता इतनी व्यापक है और इसके अन्तर्गत इतने अधिक आपत्तिजनक विषय और सामाजिक हित की बातें आती हैं कि यदि इसे सही अर्थों में लागू किया जाए तो सार्वजनिक प्रदर्शन योग्य शायद ही कोई फिल्म उचित पाई जाए । निस्संदेह सैंसर द्वारा पारित अनेक भारतीय फिल्में अस्वीकृत हो जानी चाहिएं क्योंकि उनमें संहिता नियमों का उल्लंघन होता है । उदाहरणार्थ अभद्र नृत्यों के दृश्य, बच्चों के प्रति निर्दयता, वयस्कों को यंत्रणा देना, जानवरों के प्रति निर्दयता, अनैतिकता सूचक तथा

compiled and created by Bhartesh Mishra

भेद छिपाने के लिए छलकी देने वाले दृश्यों युक्त फिल्में बनती हैं तथा दिखाई जाती हैं जबकि उपरिउल्लेखित सभी बातें आपत्तिजनक हैं। इसके विपरीत निर्माता सामाजिक और मानवीय समस्याओं का विवेचन करने से कतराते हैं क्योंकि ऐसी प्रत्येक बात अप्रत्यक्ष रूप से निषिद्ध है जो विवाह की पवित्रता को कम करे या भ्रष्ट सरकारी कर्मचारी का उल्लेख करके सरकारी सेवाओं का अपमान करे या बेइमान नेता का उपहास करे।

1969 में जांच समिति

सम्पूर्ण फिल्म सैंसर व्यवस्था पर नए सिरे से विचार करने की माग लगभग सभी क्षेत्रों से हुई है। सन् 1969 में भारत सरकार ने एक उच्चस्तरीय समिति का गठन किया जो इस प्रश्न पर विचार करके अपने सुझाव प्रस्तुत करें ताकि भारतीय फिल्मों का कलात्मक और सौन्दर्य बोधी स्तर उन्नत हो और ऐसी फिल्मों के उत्पादन और प्रदर्शन पर रोक लगाई जा सके जो जनता की अभिरुचि को गिराए।

इस बात में कोई संदेह नहीं कि वर्तमान सैंसर व्यवस्था, सैंसर संगठन तथा फिल्मों की सैंसर पद्धति असंतोषजनक है। सर्जनात्मक कलाकार को अपने विचारों को व्यक्त करने के अधिकार पर बहुत कुछ बंधन हैं। साथ ही साथ, और संभवतः इन्हीं प्रतिबन्धों के कारण हमारी फिल्मों के सौन्दर्यबोधी स्तर का बहुत अधिक पतन हो गया है। अधिकांश निर्मित फिल्मों में बिक्री हेतु मनोरंजन के अतिरिक्त कुछ नहीं होता। इन फिल्मों में दुश्चरित्र दर्शकों को पुलकित करने के लिए अक्सर घटिया और अश्लील दृश्य होते हैं। फिल्म उत्पादन में संसार की प्रवृत्तियों और नवविकसित कलात्मक और सौन्दर्य मूल्यों से सैंसर अनभिज्ञ है। नायिकाओं के चयन की पद्धति में पर्याप्त सुधार की आवश्यकता है; अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता के मौलिक अधिकार के प्रयोग में तथा फिल्मों के मूल्यांकन में बौद्धिक परिपक्वता के विकास में सरकार का हस्तक्षेप और नियंत्रण बाधक है।

संविधान का 19वां अनुच्छेद : हालांकि यह बात भलीभांति समझ लेनी चाहिए कि फिल्म सेंसर नियम बंधता से पारित किया जा सकता है और लेखक का विचार है कि कलाकार और फिल्म निर्माता भी समाज के हित में थोड़ी बहुत स्वतंत्रता का त्याग करने के लिए तैयार होंगे। यदि किसी कलात्मक या अन्य किसी प्रकार की सक्रियता के फलस्वरूप जीवन का मान्य ढंग भंग होता हो या अव्यवस्था फैले तो राज्य इस प्रकार की सक्रियता पर विधान द्वारा न्याय संगत रोक लगा सकती है। संविधान का 19वां अनुच्छेद सरकार को अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता पर प्रतिबंध लगाने का अधिकार देता है बशर्ते कि ऐसा करना "भारत की प्रभुसत्ता और अखंडता, राज्य की सुरक्षा, विदेशी राज्यों से मैत्री संबंधों, सार्वजनिक नियमों, शालीनता या नैतिकता के हितों में हो अथवा न्यायालय की अवज्ञा, मान हानि या किसी अपराध को उकसावा देने से संबद्ध हो"।

ऊपर जिस व्यवस्था का उल्लेख किया गया है वह उन लोगों के लिए उत्तर है जो फिल्म सैंसर के उन्मूलन के पक्ष में हैं। साथ ही साथ यह भी स्मरण रखना चाहिए कि सैंसर को न्यायसंगत होना चाहिए जिसका निर्णय लोकमत, फिल्म के कथानक, उसके प्रस्तुत किए जाने के ढंग, तथा दर्शकों पर पड़ने वाले प्रभाव के संदर्भ में न्यायालय और सर्वोच्च न्यायालय द्वारा किया जाना चाहिए।

इस बात की आशा की जाती है कि अधिक युक्तिसंगत, अधिक बौद्धिक तथा अधिक संगत सैंसर व्यवस्था कार्य करेगी और साथ ही साथ फिल्म निर्माता भी फिल्मों में कलात्मक और सौन्दर्य बोधी विषयों पर अधिक ध्यान देंगे। फिल्म निर्माण एक व्यावसायिक प्रतिष्ठान है जिसका उद्देश्य धनोपार्जन है परन्तु अन्य सभी बातों की अवहेलना करना तथा जनता की अभिरुचि को गिराना देश-विरोधी तथा समाज विरोधी होगा। सर्जक कलाकार जनता की पसंद को मोड़ देकर सुधार कर सकता है और इस प्रकार बौद्धिक, कलात्मक और सौन्दर्यबोधी निर्देश दे सकता है। यदि जब भी स्वार्थ और व्यावसायिक उद्देश्य से अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता का दुरुपयोग हो तो राज्य हस्तक्षेप कर सकता है तथा तब करना भी चाहिए।

रूपान्तर शोभना सक्सेना

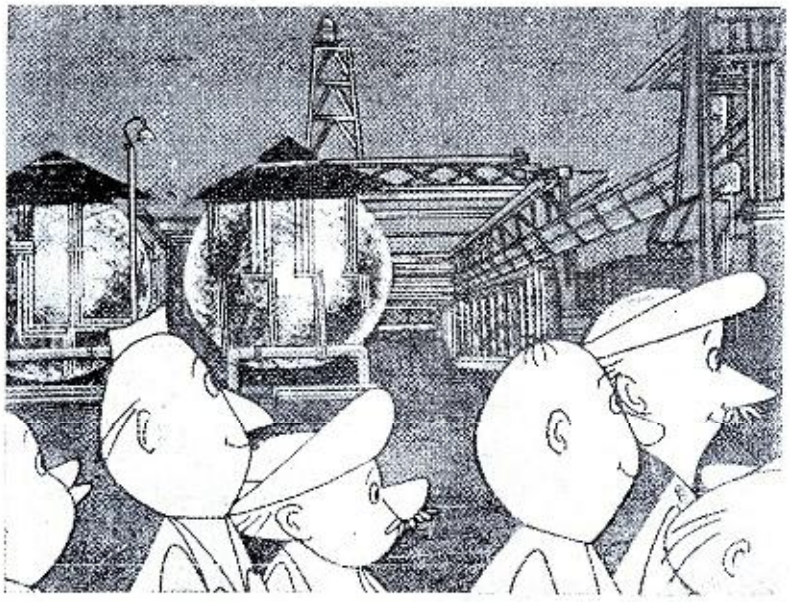

मायाराम के सपने

compiled and created by Bhartesh Mishra

आधुनिक नाटक और लोक नाट्य

देवी लाल सामर

नाटक कला का वह स्वरूप है जो किसी स्थिति, घटना, एवं व्यक्ति की अनुकृति के रूप में रंगमंच पर दर्शक समुदाय के समक्ष प्रस्तुत होता है। किन्हीं व्यक्तियों या स्थितियों का बहुरूपी व्यवहार एवं भावस्थितियों के साथ प्रस्तुत होने वाले वास्तविक कार्यकलाप नाटक में शुमार नहीं होते, भले ही वे किसी चौराहे पर कुतूहलवश एकत्रित हुए किसी दर्शक समुदाय के समक्ष ही क्यों न घटित हुए हों। उक्त दोनों ही प्रकार के व्यवहार एवं कार्यव्यवहार, दृश्य रूप होने से नाटक जैसे क्यों न लगते हों, अनुकृतिमूलक नहीं होने के कारण नाटक नहीं हैं।

अनुकृतिमूलक होते हुए भी नाटक नहीं

कभी-कभी कोई स्थिति अनुकृतिमूलक होते हुए भी नाट्य की शर्तें पूरी नहीं करतीं। उदाहरण के रूप में नाट्य का कोई दृश्य प्रस्तुत होते हुए कभी-कभी पात्र भावातिरेक में अपना आपा खो बैठते हैं और यह भूल जाते हैं कि वे किसी की नकल कर रहे हैं। वे अपने मूल व्यक्तित्व को ऊपर ले आते हैं और अपनी स्वयं की समस्याओं के कारण अपने विवादीपात्र से उलझ पड़ते हैं, लड़ पड़ते हैं तथा एक दूसरे का खोपड़ा खोल देते हैं, दर्शक समुदाय बिखर जाता है और उन्हें पात्रों को उस उलझाव से मुक्त कराना पड़ता है। एक समय किसी रामलीला में राम-रावण युद्ध के समय रावण बना हुआ पात्र राम बने हुए पात्र के साथ गुंथी हुई किसी वास्तविक सांसारिक अदावत को भूल न सका और राम को अपनी गदा से बराबर आहत करता ही गया। रामकथा के विपरीत यह आचरण दर्शकों के मन में रोष प्रकट किए बिना नहीं रह सका और इस नाट्य-विपरीत स्थिति को सम्भालने के लिए समस्त दर्शक समुदाय को बिखर जाना पड़ा और राम बने हुए पात्र को सीधे अस्पताल पहुंचाकर रावण बने पात्र को थाने के हवाले करना पड़ा। उक्त उदाहरण से यह सिद्ध है कि नाटक का अनुकृतिमूलक होना अत्यंत आवश्यक है। कई नाट्य निर्देशक अपने पात्रों को यह आदेश देते हैं कि वे जो पार्ट करते हैं, उसमें उन्हें पूरी तरह घुलमिलकर तथा कथावस्तु को विशिष्ट स्थिति एवं चरित्र की गहराई में उतरकर एकात्मक हो जाना चाहिए। किसी हद तक यह आदेश सत्य होते हुए भी भ्रामक भी है। किसी करुण की स्थिति में अनेक पात्र रंगमंच पर रोते हुए देखे गए हैं। वे इतने भावातुर हो जाते हैं कि उनका रोना चाहते हुए भी नहीं रुकता और आगे आने वाली वांछित भावस्थिति तक पहुंचने में उनको बड़ी कठिनाई महसूस होती है। कभी-कभी वह रो पड़ना प्रभावी हो सकता है और संभव है दर्शक समुदाय से उसे प्रशंसात्मक तालियां भी मिलें, परन्तु वह नाट्य परंपरा एवं विशिष्ट नाट्य स्थिति के बिलकुल विरुद्ध है। होता क्या है कि ऐसी अवस्था में पात्र अपने जीवन की वास्तविक अनुभूत स्थिति में पहुँच जाते हैं अपना आपा भूल जाते हैं और नाट्यजन्य अनुकृतिमूलक बोध से नितान्त शून्य हो जाते हैं। ऐसे पात्र सफल अभिनेता नहीं होते और वे नाट्य के लिए बिलकुल निकम्मे समझे जाते हैं। अतः नाट्य निर्देशन के समय पात्रों को यह आदेश देना कि तुम राणा प्रताप की भूमिका अदा करते समय प्रताप ही बन जाओ, रावण की भूमिका करते रावण की आत्मा में प्रवेश, बिलकुल गलत है। पात्रों को निर्देश यह मिलना

compiled and created by Bhartesh Mishra

चाहिए कि तुम्हें प्रताप की भूमिका अदा करनी है, परन्तु प्रताप प्रताप नहीं बनना है, प्रताप का जोश और ओज तुम्हारी भुजाओं से प्रतीत होना चाहिए असल बनकर नहीं नकल बनकर तुम्हें जब हँसना है तो ऊपर से हँसना चाहिए, चाहे तुम्हारे अंदर का मन रो ही क्यों न रहा हो, तुम्हें किसी के प्रति घृणा एवं गुस्सा बतलाते समय उसका उपक्रम करना चाहिए, चाहे अन्दर का मन खुशी, कारुण्य और दया से ओतप्रोत हो क्यों न हो । वह नकल इतनी असल लगनी चाहिए कि दर्शक समुदाय द्रवीभूत हो जाय । यही कारण है कि दर्शक समुदाय इन अनुकृतिमूलक स्थितियों से प्रभावित होता है और उनमें अस्वाभाविकता का लेशमात्र भी आभास हो जाने पर वह उनके प्रति उदासीन हो जाता है । दर्शक समुदाय अपने जीवन का वास्तविक क्रियाकलाप छोड़कर रंगशाला में आता है और वह असल को नकल देखने में ही आनन्द का अनुभव करता है ।

एक नौटंकी निदेशक ने, जो स्वयं नायक की भूमिका अदा कर रहा था, अपने वास्तविक जीवन की किसी एक प्रेमिका को ही नायिका के रोल में प्रस्तुत किया । वे दोनों जब रंगमंच पर आये और नाटकीय क्रियाकलापों में निरत हुए तो दर्शकों को यह अनुमान लगाने में तनिक भी देर नहीं लगी कि उनके क्रियाकलाप, हावभाव आदि यद्यपि प्रेमाचार के मर्म से परिपूर्ण अवश्य हैं, परन्तु दर्शक समुदाय उनसे तनिक भी प्रभावित नहीं हुआ । उन्हें लगा कि नाट्याचार को दर्शक-प्रदर्शक पारस्परिक संवेदना में कहीं न कहीं व्यवधान आ रहा है और नायिका मधुर कंठी, मृदुभाषिणी तथा सुन्दर बदनी होते हुए भी दर्शकों के मन को नहीं भा रही है ।

संवेदना के लिए अनुकृति आवश्यक

नाट्य में यदि कोई संवेदनात्मक तत्व होता है तो वह अनुकृति का ही होता है, वास्तविकता का नहीं । वस्तुस्थितियां, वार्तालाप, वाचन, कथन, वस्तु, पात्र, चरित्र, क्रियाकलाप आदि सब झूठे ही होने लाजमी हैं । आनंद का रस झूठ में ही प्रस्फुटित होता है । वह झूठ कला का रूप तभी ग्रहण करता है जब वह असल का भ्रम पैदा करे, तभी रस तथा आनंद की निष्पत्ति होती है । उक्त नौटंकी का नायक और उसकी नायिका बनी महिला उस झूठ को प्रदर्शित करने में नितान्त असफल थे और वे अपने वास्तविक जीवन के प्रेमाचार को झूठ में नहीं छिपा सके, इसीलिए वे अप्रभावी रहे तथा दर्शक समुदाय में कुछ देर के लिए विद्रोह खड़ा हो गया । किसी भी वास्तविक नाटक में कोई भी नायिका जब झूठ का सही नाटक करती है तभी वह सबके दिल की रानी बनती है । उस समय वह केवल रंगमंचवाले नायक की ही नायिका नहीं रहती । वह सबकी नायिका होती है । जब वह नायिका इस उत्तरदायित्व को नहीं निभा सकती तो दर्शक समुदाय इस पक्षपात को बर्दाश्त नहीं करता और विद्रोह कर बैठता है ।

असल में उस नौटंकी की नायिका वह महिला कभी नहीं बनती थी । उस भूमिका को अदा करने वाला एक नौजवान लड़का था । वही सबके मन को भाता था और इस भूमिका में उसी का कमाल सर्वविदित था । लड़का होने के नाते किसी पात्र के प्रति अनुकृतिमूलक संबंध होने के अलावा अन्य किसी प्रकार के वास्तविक संबंध की आशंका हो ही नहीं सकती थी । प्रतिपल नारीसुलभ भावों की अनुकृति प्रस्तुत करना उसके लिए लाजमी था । वाणी में, हावभावों में, अंगभंगिमाओं, लहजों, नाजनखरों, गान मनुहारों आदि सभी में नाट्यतत्वों के अनुरूप नकल को असल का रूप देने के अलावा उसे और कुछ नहीं करना पड़ता था । इसी कारण यह लड़का नायिका की भूमिका में सदा ही सफल होता था । नकल एवं अनुकृति का यह सर्वाधिक प्रबल तत्व जिस नाटक में परिपालित नहीं होता वह अत्यंत असफल नाटक होता है ।

नाटक की वस्तु

नाटक का दूसरा प्रमुख तत्व है वस्तु । वस्तु के बिना कोई भी नाटक सार्थक ही नहीं संभव भी नहीं होता । वस्तु के अनेक स्वरूप हो सकते हैं । एक वह वस्तु है जो जीवन के सर्वांगीण पक्ष को स्पर्श करती है तथा दूसरी वह जो केवल उसके अंशमात्र को । आंशिक वस्तु एकांकी नाटकों के लिए उपयुक्त समझी गई है और सर्वांगीण वस्तु पूर्णांकी नाटकों के लिए । नाट्य-शास्त्रों में वस्तु आदि के लिए जो विवरण उपलब्ध है उसके अनुसार नाटकों की रचना इस युग में कल्पनातीत है । वैसे नाटक आज के रंगमंच पर खेलना संभव भी नहीं है और न उसके योग्य अनुकूल वातावरण एवं पृष्ठभूमि ही है । पारसी शैली के नाटकों में वस्तु पर सर्वाधिक जोर था और उसमें चमत्कारिक एवं कुतूहलवर्धक पक्षों को उभारने की प्रवृत्ति थी । नाटक का यह पक्ष अत्यंत महत्वपूर्ण समझा जाता था तथा नाटक के अन्य तत्व इसी से शासित होते थे । मानवी चरित्रों के सूक्ष्मातिसूक्ष्म मनोवैज्ञानिक व्यवहारों को चित्रित करने की चेष्टा उनमें नहीं के बराबर थी । ऊपर ऊपर के सतही भावों को व्यक्त करके दर्शकों को उभारने की चेष्टा सर्वाधिक प्रबल थी, वस्तु के कुतूहल को छिपाए रखकर उसे विस्फोट के रूप में प्रकट करने की बात सबसे ज्यादा महत्वपूर्ण समझी जाती थी । विविध पात्र भी इसी चमत्कारिक शैली में प्रकट होते थे और किस समय वे क्या व्यवहार करेंगे इसका पता किसी को नहीं रहता था । व्यवहार, प्रक्रिया और प्रतिक्रियाओं के मनोवैज्ञानिक आधार का कहीं ध्यान नहीं रखा जाता था । इन नाटकों में सर्वाधिक आकर्षण की सामग्री होती थी, उनके संवादों की प्रभावशीलता, मार्मिकता एवं उनकी तीखी आघातें । दूसरी महत्वपूर्ण बात थी उनका मनोरंजनात्मक पक्ष । उसमें किसी प्रकार की दुर्बलता कभी भी क्षम्य नहीं होती थी । वह मनोरंजन नाटक में सम्मिलित प्रहसन गीत, नृत्य आदि से तो उपलब्ध होता ही था, साथ ही अनेक नाटक ऐसे भी थे जिनमें इन तत्वों की न्यूनता होते हुए भी अभिनय, कथावस्तु एवं कथोपकथन के चमत्कारिक प्रयोग के कारण पर्याप्त मात्रा में मनोरंजन उपलब्ध होता था ।

पारसी नाटकों से प्रभावित राधेश्याम कथावाचक एवं अन्य समकालीन नाट्य लेखकों में इसके प्रमाण पर्याप्त मात्रा में मिलते हैं । बंगला नाटक में द्विजेन्द्रराय लिखित नाटक भी प्रायः इसी श्रेणी में आते हैं । इन नाटकों में कथावस्तु से अलग-थलग कोई प्रहसन आदि नहीं थे और प्रहसन के जो अंश वस्तु में हास्यविनोदी पात्रों में निहित थे उनका स्तर भी नीचा नहीं था । कुल मिलाकर हम यह कह सकते हैं कि इन नाटकों में मनोरंजन पक्ष को उभारने में नाटक की वस्तु, कथोपकथन एवं चरित्र-चित्रण आदि सभी एकजुट होकर सहायक होते थे । इन नाटकों में समाज के लिए दिशानिर्देश की बात भी होती थी, फर्क केवल इतना ही था कि ये नाटक अब आधुनिक नाट्यकृतियों को नहीं रचते और वास्तव में रचे भी क्यों, क्योंकि जमाना भी इतना आगे बढ़ गया । मनोरंजन के स्तर एवं

compiled and created by Bhartesh Mishra

उनके प्रकार भी बदल गये, फिल्में रंगमंच के मुकाबले में खड़ी हो गईं।

आज का नाटक

आज का नाटक अब मनोरंजनात्मक पक्ष को अधिक महत्वपूर्ण नहीं समझता जब कि भारतीय मध्यवर्ती नाटक इसी लक्ष्य से प्रादुर्भूत हुआ। उस समय मनोरंजन के कोई दूसरे साधन नहीं थे। आज तो मनोरंजन के साधनों की कोई कमी नहीं। फिल्म के अलावा नाचगान, नृत्यनाट्य, खेलतमाशे भी उभर आये। अब नाटक मनोरंजन का साधन नहीं रहा। आज का नाटक जीवन की समीक्षा के रूप में सामने आया। वह वस्तु को प्रधानता नहीं देता। रंगमंच की भी कई रूढ़ियां उसने तोड़ दीं। रंगसज्जा का भी कोई महत्व नहीं रहा। कथोपकथन को अब मानस की गहरी परतें खोलने के लक्ष्य को पूरा करना चाहिए। वह भावगम्य होने की अपेक्षा बुद्धिगम्य अधिक हो गया। नाटक का अनुकृतिमूलक तत्व भी आज के नाटक में कमजोर पड़ रहा है। अभिनेता से अनुकृति अपेक्षित अवश्य है, परन्तु वह अनुकृति इतनी बोधक एवं विचारानुगुम्फित हो गई है कि वास्तविक मानवी क्रियाकलाप की अनुकृति हूबहू ढंग से प्रकट न होकर केवल प्रतीकात्मक एवं दार्शनिक ढंग से प्रकट होने लगी है। किसी विशिष्ट प्रसंग में प्रकट हुई भावात्मक प्रक्रियाएं, जो स्वभाविक रूप से मुखाकृति एवं अन्य शारीरिक अवयवों से व्यक्त होती है, इतनी सूक्ष्मातिसूक्ष्म (Microscopic) होती हैं कि उनके प्रभाव केवल अभिनेताओं तक ही सीमित रहते हैं। दर्शकों तक स्पंदित होने के लिए इन प्रक्रियाओं में तनिक अतिरंजना की आवश्यकता है, क्योंकि नाटक की नाटकीयता अभिनय में तनिक अतिरंजित किए बिना नहीं उभरती। यही कारण है कि मध्यकालीन पारसी एवं हिन्दी थियेटर के कुछ पुराने प्रयोगियों ने उन प्रक्रियाओं की अवयवी अतिरंजनाओं को प्रधानता दी थी, जिससे दर्शक समुदाय उन सूक्ष्म अभिव्यक्तियों को आत्मसात करने में सफल हुआ। परन्तु आधुनिक प्रयोगात्मक नाटक, अभिनेता की मानसिक तहियों को व्यक्त करने में इतना अधिक गुंफित हो गया है कि रंगमंच के क्रियाकलाप, जो दर्शकों की आंखों को प्रतिपल क्रियान्वित रखते थे, अपने आप में सिमट से गये हैं।

इन नाटकों में वस्तु के प्रति उदासीनता और घटनाओं की सिकुड़न इतनी अधिक हो गई हैं कि केवल अभिनेता और उनके मानसिक उहापोह ही प्रधानता प्राप्त करने लगे हैं। इसके साथ ही मानसिक संघर्ष, सामाजिक कटाक्ष तथा मानवी व्यवहार की सूक्ष्मातिसूक्ष्म क्रिया प्रक्रियाओं की ओर इतना झुकाव परिलक्षित हो रहा है कि साधारण दर्शक के लिए ये नाटक बड़े दुरूह हो गए हैं। नाटक की यह असाधारण प्रक्रिया हमारे देश में इस हद तक हावी हो गई है कि कई कुशल नाट्य लेखक भी उलझन में पड़ गए हैं। कभी-कभी इन नाटकों को पूरे तीन घंटे तक भयंकर मानसिक दबाव के साथ देखने पर भी सिवाय सिरदर्द के और कुछ हाथ नहीं लगता। प्रयोग की दृष्टि से ये नाटक अवश्य कुछ नवीनता लिए हुए हों परन्तु ऐसा लगने लगा है कि यह नवीन नाट्य-प्रयोग भारतीय पुरातन नाट्य प्रयोगों से बिलकुल अलग-थलग पड़ गया है। इस प्रयोग की जड़ें न तो पुरातन संस्कृत नाट्य परम्परा में हैं और न भारत की अन्य लोकनाट्य विधाओं में ऐसा लगता है कि वह पश्चिम की आधुनिकतम नाट्य-परम्परा से अपनी प्रेरणा ग्रहण कर रहा है। स्वयं यूरोपीय नाट्य-प्रयोगों में भी यह नवीन प्रयोग यूरोपीय पुरातन परम्परा से मेल नहीं खाता।

लोकनाट्यों के सम्बन्ध में शास्त्रि

इन आधुनिकतम नाट्य-प्रयोगियों में से कुछ का यह कहना है कि वे अपनी समस्त प्रेरणा लोकनाट्यों से ग्रहण करते हैं। यह बात कितनी भ्रामक है यह वे ही जान सकते हैं जो लोकनाट्य विशेषज्ञ हैं। ये प्रयोगात्मक नाटक अधिकांश वस्तु के प्रति उदासीन होते हैं। केवल एक समस्यामात्र को ही वस्तु का रूप देकर उसके इर्दगिर्द अपना तानाबाना बुनते हैं। ऐसे नाटकों के पात्र अत्यंत अस्पष्ट, उनका लक्ष्य दुर्बल, वेग अत्यंत शिथिल है एवं दर्शकों की रुचि पकड़ने वाले स्थल इतने न्यून होते हैं कि वे लोकनाट्यों के कहीं नजदीक नहीं आते हैं। कभी-कभी इन नाटकों में जो विशिष्ट भावातिरेक की स्थिति पैदा की जाती है वह इतनी अल्पजीवी एवं तात्कालिक होती है कि उसका प्रभाव अधिक समय तक नहीं रहता। ऐसे नाटकों के कथोपकथन काव्यात्मक होते हुए भी अत्यंत अन्तर्मुखी होते हैं। उनमें पात्रों का कहीं निखार नजर नहीं आता, उनके चरित्र बराबर अस्पष्ट बने रहते हैं, दर्शकों पर जो कुल प्रभाव पड़ता है वह किसी विशिष्ट चरित्र के उत्कर्ष अपकर्ष का नहीं। नाटक का प्रमुख पात्र या नायक यदि कोई होता भी है तो वह नाटक के मूलस्रोत से कटा हुआ रहता है। उसके चरित्र का कोई विशेष रंग नहीं निखरता। उसका कोई विलग व्यक्तित्व नहीं उभरता। अन्य पात्र भी कुल मिलाकर अपने व्यक्तित्व की छाप नहीं छोड़ते। वे अधिकांश किन्हीं विचाराधाराओं के प्रतीक मात्र होते हैं। पात्र, वस्तु, चरित्र-चित्रण, अभिनय, रंगमंचीय व्यवस्था, मंचशिल्प आदि नाट्यतत्वों को उभारे बिना ही ये नाटक का बाना पहिन लेते हैं जो केवल कुछ विशिष्ट दर्शकों के लिए एक ऐसे रूपक की तरह पेश होते हैं जिसका कोई विशेष स्थायित्व नहीं होता।

जानबूझकर मैं अपने इस अध्ययन में किसी विशिष्ट नाटक का हवाला नहीं देना चाहता, परन्तु फिर भी उनके विभिन्न प्रकारों का अंदाज यहां अवश्य हो जायगा। आधुनिक नाटकों के नाम पर कुछ नाटक ऐसे भी लिखे गए हैं, जो वस्तु की एकांगिकता, प्रसंग की एकरूपता, विषय की सरलता, पात्रों की न्यूनता, स्थल, स्थान एवं समय की सिकुड़न को देखते हुए तो विशुद्ध एकांकी हैं परन्तु उनको पूर्णांकी नाटक का दर्जा दे दिया गया है। रंगकर्मियों ने अपना शिल्पकौशलता चलाने के लिए इस प्रकार के सरल एवं संक्षिप्त प्रसंग को पूरे तीन घंटे तक फैलाकर मनोभावों की सूक्ष्मातिसूक्ष्म प्रक्रियाओं के बीच गुजरने की आजादी दी है, जिससे ऐसा लगता है कि वे मनोभाव ही नाट्यपात्र है। लंबी अवधि तक पात्र एक ही स्थिति (situation) में बने रहकर अपने मनोभावों का उतार चढ़ाव दर्शाते हैं जो मनोविज्ञानकों के लिए दिलचस्प हो सकते हैं, परन्तु नाट्यप्रेमी रसिक समाज के लिए नहीं। इन प्रसंगों में स्थिति ज्यों की त्यों बनी रहती है। पात्रों के मनोभाव आकृतियों के उतार चढ़ाव के साथ अपना करिश्मा अवश्य दिखाते हैं, काव्यात्मक संभाषणों की झड़ी लगती है, परन्तु प्रसंग वहीं का वहीं बना रहता है। बड़ी झुंझलाहट के बाद स्थिति रेंगती हुई आगे बढ़ती है, फिर नई मनःस्थितियां पैदा होती हैं, रेंगते हुए कुछ नए पात्र भी आते हैं, परन्तु क्रियाकलापहीन वे भी मानसिक कलापों में ही उलझ जाते हैं। नाटक का उत्कर्ष, चरित्र का चमत्कार अपकर्ष वस्तुस्थितियों का

compiled and created by Bhartesh Mishra

वैविध्य, घटनाओं का उलटफेर एवं नाटक के निष्कर्ष प्राय: अनिश्चित एवं गुफित ही रहते हैं। समस्त नाटक में काव्य की सी कमनीयता का आस्वाद अवश्य मिल जाता है, परन्तु ऐसा नहीं आनंद एवं भावनाओं से लगता है कि आपने कोई नाटक देखा है।

हिन्दी के रंगमंचीय नाटक

यहां हम भली प्रकार मान लेते हैं कि नाटक न तो लिखने की चीज है, न पढ़ने की। नाटक लिख लेने के बाद उसका उपन्यास की तरह भी सीधा प्रभाव पाठक पर नहीं पड़ता। वह रंगमंच पर आकर ही रसनिष्पत्ति की स्थिति में होता है। यह भी मान लेने की बात है कि संस्कृत नाटकों के बाद हिन्दी में कोई भी अच्छा नाटक आज तक नहीं लिखा गया। बंगला, महाराष्ट्र, कन्नड़ आदि में नाटक अच्छे अवश्य लिखे गये, मगर हिन्दी अभी तक भी अच्छे नाटकों में शून्य ही रही। पारसी नाटक यद्यपि मनोरंजन प्रधान अवश्य थे, परन्तु वे नाट्यतत्वों से शून्य थे। रंगमंच के अनुभव के बिना कई हिन्दी के विद्वानों ने जो नाटक लिखे वे उपन्यास एवं कथा-साहित्य से भी गये बीते सिद्ध हुए, कुछ नवीन प्रयोगियों ने, जिनमें पृथ्वी थियेटर्स के प्रयास उल्लेखनीय हैं, सफल नाटक अवश्य प्रस्तुत किए, परन्तु वे नाट्योत्कर्ष को प्राप्त ही नहीं हो सके। अनेक हिन्दी नाटक अधिकांश संभाषण मात्र ही रह गये। नाट्यतत्वों के अभाव के कारण वे रंगमंच पर असफल ही रहे। परन्तु एकांकी के क्षेत्र में अवश्य ही कुछ हिन्दी नाट्य-प्रयोग सफल हुए हैं परन्तु उन्हें अच्छा रंगमंच नहीं मिला इसलिए स्कूल, कालेज तथा रेडियो टेलीविजन तक ही सीमित रहे। इनमें निश्चित ही अच्छे नाटकों के गुण विद्यमान थे। बंगला नाटकों में भी यात्रा पर आधारित अच्छे एवं सफल प्रयोग हुए हैं। स्व० द्विजेन्द्रनाथराय के नाटक, यद्यपि पारसी नाट्यतंत्र के अनुरूप ही थे, फिर भी उनमें पर्याप्त मात्रा में नाट्यतत्व मौजूद थे। महाराष्ट्र में भी नाटक में कई अभिनव प्रयोग हुए हैं। उनमें नाट्य तत्व पर्याप्त मात्रा में विद्यमान है, परन्तु आधुनिक नाट्य-प्रयोगियों ने उनको रुचिकर नहीं माना। कन्नड़ में भी अच्छे नाटक लिखे गए हैं जो कई माने में हिन्दी नाटक से कहीं आगे हैं।

हिन्दी नाट्य-लेखकों ने बंगला एवं पश्चिमी नाटक से काफी प्रेरणा ली है। इन नाट्य-प्रयोगियों को हिन्दी में कोई अच्छे नाटक मिलते ही नहीं, अत: वे पश्चिम की तरफ अधिक उन्मुख हुए हैं। उनके कई अनुवाद उन्होंने मंचित किए हैं। कुछ नवीन नाट्य-लेखक पश्चिमी प्रभाव से हिन्दी में नवीन शैली के नाटक लिखने लगे हैं, अब हिन्दी नाट्य आकाश में तारों की तरह चमकने लगे हैं। यत्र-तत्र वे ही नाटक खेले जाते हैं और उन्हीं की महिमा गाई जाती है। ये नाटक तंत्र की दृष्टि से नवीन अवश्य हैं और उन्होंने रूढ़ियों को तोड़कर नवीन दिशा अवश्य पकड़ी है परन्तु वे पूर्णरूप से सफल नाटक हैं, ऐसा भी नहीं कहा जा सकता कुछ तो ऐसे हैं, जो नवीन चित्रशैली की तरह केवल इम्प्रेशन (Impression) एवं प्रतीकों के सहारे चलते हैं। ये ऐसे नाटक हैं जिन के लिए विशिष्ट दर्शक समाज की जरूरत होती है। इसीलिए वे पूरी तरह जनमानस को पचे नहीं हैं। कुल मिलाकर ऐसा लगता है कि अभी हिन्दी नाट्य जगत शून्य में भटक-सा रहा है।

लोकनाट्य एवं उनसे प्रेरणा

भारत में आज भी जितने लोकनाट्य हैं या जितनी लोकनाट्य विधाएं हैं उतने आधुनिक नाट्य भी नहीं हैं। इनके पीछे सैकड़ों वर्षों की समृद्ध परम्परा है। इन दिनों जो एक भ्रान्ति फैली है कि लोक-नाट्यों का जन्म केवल 200 वर्ष पूर्व हुआ, गलत तथ्यों पर आधारित है। लोकनाट्य हम विविध अंचलों में देखते हैं, उनमें से अधिकांश इतने बचकाने एवं प्राथमिक से लगते हैं कि हम अनायास ही उनके अल्पजीवी होने की कल्पना कर लेते हैं। हमें नहीं ज्ञात है कि संस्कृत नाटकों से पूर्व भी यह नाट्य-परंपरा अपनी समृद्धि को पहुंच चुकी थी। अनेक जैन ग्रन्थों में ऐसे लोकनाट्यों का उल्लेख है जो संस्कृत नाटकों से भी पुराने हैं। इन्हीं प्रचलित लोकनाट्यों से नाट्यतत्वों की अनुभूति शास्त्रकारों को हुई, जिसे उन्होंने शास्त्रों में निरूपित किया और वे ही शास्त्र कालांतर में नाट्य-व्याकरण के रूप में प्रयुक्त हुए। ये लोकनाट्य सदा ही समय एवं परिस्थितियों के अनुसार परिवर्तन स्वीकार करते गये और तत्कालीन समाज के बुद्धिस्तर के अनुसार रूपान्तरित होते रहे। दक्षिण भारत के उच्चस्तरीय बौद्धिक एवं सांस्कृतिक स्तर के कारण वहां का यक्षगान एवं कुचपुडी लोक-नाट्य आज भी उच्चस्तर को प्राप्त है। यहां तक कि कथकलि जैसा लोक-नाट्य भी शास्त्रीय नाट्य की श्रेणी प्राप्त कर गया है। महाराष्ट्र का तमाशा भी महाराष्ट्र के कला एवं शैक्षणिक स्तर के अनुरूप ही अपने उच्चस्तर को प्राप्त कर रहा है। हरियाणा के स्वांग तथा राजस्थान के ख्याल आज भी अपने ऊंचे स्तर को प्राप्त नहीं कर सके। ब्रज का रास तथा मथुरा की रामलीला अपने धार्मिक परिक्षेप के कारण अपना उच्चस्तर आज भी प्राप्त किए हुए हैं। बंगला की यात्रा भी साधारणजन के शैक्षणिक स्तर के साथ ही उच्चस्तर प्राप्त कर रही है।

कुल मिलाकर आज हमारे देश में अच्छे बुरे सभी लोकनाट्य हिन्दी नाटकों से तो कहीं अधिक लोकप्रिय हैं। जो कुछ भी उनमें विकृतियां आई हैं वे उनके प्रयोक्ताओं के निम्न सांस्कृतिक स्तर के कारण हैं। उनके अंतराल में गहराई से उतरने पर उनमें उच्चकोटि के नाट्य-तत्वों के दर्शन होते हैं। मालवा के भाच ही को लीजिए। नवीन प्रयोगियों ने परंपरा से परे अपने स्वयं के भाच लिखकर उन्हें निम्नस्तर तक पहुंचाया है। मालवा की प्राचीन भाच-परंपरा के जो भाच हैं वे नवीन भाचों से कहीं अधिक परिपक्व हैं। नवीन भाच-प्रणेताओं ने अपने स्वयं के भाच लिखकर नई पुरानी की जो खिचड़ी पकाई है वह बेमेल-सी लगती है; इन नवीन भाचों को पुरातन भाचों की परंपरा में डालने के लिए फरांश, भिश्ती, जाजम बिछाई आदि के जो प्रसंग ज्यों के त्यों लिए गए हैं, वे केवल इन नवीन रचनाओं को पुरातन रंग देने की गरज से ही लिए गए हैं। वे मूल रचना से बिलकुल मेल नहीं खाते। उसके बाद जो भी प्रस्तुत किया जाता है उसमें हर जगह बिखराव के अलावा कुछ भी नहीं है। कथा-सूत्र को कहीं उखाड़कर फैंक दिया गया है और प्रचलित लोकनृत्य और गीतों को उभारने के लिए भाच की वस्तु एवं उसके अन्य तत्वों की अवहेलना-सी की गई है। कई अप्रासंगिक तत्वों को केवल मनोरंजन के लिए अत्यधिक विस्तार देकर एवं भाच के मूल तत्वों एवं वस्तु के महत्वपूर्ण अंगों को केवल औपचारिक रूप से रखकर समस्त भाच को कहीं भी गठित नहीं होने दिया गया है।

यही बात राजस्थान के अन्य ख्यालों में भी परिलक्षित होती है। कुचामणी ख्यालों के प्रणेता स्वर्गीय लच्छी रामजी ने प्रचलित कुचामणी ख्याल-पद्धति को बदला अवश्य है, परन्तु उसे अपनी

compiled and created by Bhartesh Mishra

मधुर राग बंदी से चार चांद लगा दिए हैं। पुरातन कुचामणी ख्यालों में धुनों का कहीं वैविध्य नहीं था; परन्तु लच्छी रामजी के ख्यालों में धुनों का इन्द्रधनुष-सा तन गया है। ये सभी धुनें पात्रों द्वारा व्यक्त भावों से सौलह आना मेल खाती हैं। लच्छी रामजी के ख्यालों में वस्तु के प्रति कहीं अवहेलना की दृष्टि नहीं परिलक्षित होती। वस्तु-बीज से अंकुर के रूप में प्रस्फुटित होकर धीरे-धीरे वृक्ष का रूप धारण कर पुष्पित एवं फलित होता है। लच्छी रामजी के सभी खेल भावों की दृष्टि से नीचे से ऊपर चढ़ते हैं और अंत में दर्शकों की भावना को चोटी तक चढ़ाकर रस की वर्षा करते हैं। लच्छी रामजी के सभी खेल पुरातन पद्धति के अनुसार पद्यों में ही चलते हैं और कहीं भी गद्य का सहारा नहीं लेते। इन खेलों में जिस तरह गायकों की उच्चता है उसी के अनुरूप ही नाच उसका अंत तक साथ देता है। पात्र गीत संवादों के माध्यम से राग रागनियों का विस्तार करता है तथा अत्यंत रसपूर्ण ढंग से अपना तात्पर्य प्रकट करता है। नाच अपनी पदचापों से उन अर्थों को दर्शकों तक पहुंचने में वाहन का काम करते हैं। इन खेलों में पात्र केवल नाचगान ही में नहीं उलझते बल्कि अपने चरित्र को गरिमा दर्शाते हुए वस्तु को आगे बढ़ाते रहते हैं और एक निश्चित निष्कर्ष तक पहुंचाते हैं।

चिड़ावा के ख्यालों में लच्छी रामजी के खेलों की सी सर्वांगीणता परिलक्षित नहीं होती। पात्र अपनी उच्चस्तरीय गायकी तथा उसके विस्तार में इस तरह उलझ जाते हैं कि नाट्य को उत्कर्ष तक पहुंचाने वाले सभी तत्व गौण बन जाते हैं। पात्र नाचगान में ही इतने लवलीन हो जाते हैं कि नाटक वहीं धरा रह जाता है और केवल नाचगान ही शेष रह जाता है।

राजस्थान के अली बख्शी एवं दुरांबलंगी खेलों में संतुलन का निर्वाह हुआ है। उनका साहित्य एवं संगीतपक्ष उच्चकोटि का है, जबकि नृत्यपक्ष तनिक कमजोर। फिर भी इनके नाट्यतत्वों में किसी प्रकार की कमजोरी नहीं आई है। बंगाल की यात्रा में जितने परिवर्तन आए हैं उतने किसी में नहीं। इसने अपने सभी काव्यतत्वों को त्यागकर गद्य का पल्ला पकड़ा है और नवीन कथानक की ओर अपना झुकाव दर्शाया है। हरियाणा के स्वांग तो अधिकांश गायन की प्रधानता लिए हुए हैं और अपने स्वांग नाम को केवल खेलतमाशों से सार्थक कर पात्रों की बुलंद आवाजों से गीतों की झड़ियां लगाते हैं।

मथुरा की रामलीला ने तो अपने पुरातन रूप का बिलकुल ही परित्याग कर दिया है। वह पारसी नाटक से प्रेरित होकर दृश्यावली वाले परदों के सहारे रामायण के विविध प्रसंगों को एक ही स्थल पर प्रस्तुत करने लगी है। ब्रज के रास ने अलबत्ता अपनी पुरातन गौरवशाली विद्या को पूर्ववत ही सुरक्षित रखा है।

उक्त सभी नाटकों में समानता की दृष्टि से अनेक ऐसी बातें हैं जो इन अधिकांश नाटकों को एक ही कड़ी में बिठा देते हैं। सबसे अच्छी बात तो यह है कि पात्र अपने प्रवेश के साथ ही अपना-अपना परिचय देते हैं, जिससे वस्तु अपने निरर्थक विस्तार से बचकर अपने मूलतत्वों की ओर आमुख रहती है। लोकनाट्यों में वस्तु की ओर अधिक आग्रह नहीं होता। सर्वाधिक आग्रह पात्रों के गुण दोषों पर केन्द्रित रहता है। गुणी पात्र के गुणों को और दोषी पात्र के दोषों को भरपूर उभारा जाता है। उन्हें संघर्षरत करके कौतूहल की सृष्टि की जाती है। इस परिपाटी में यदि पात्र पहले से अपना परिचय नहीं दे देते तो ऐसी परिस्थितियां उत्पन्न करनी पड़ती हैं जिनसे दर्शकों को स्वतः ही उनका परिचय मिल जाय। इस निरर्थक विस्तार एवं परिपाटी से बचने के लिए पात्र अपना परिचय देकर बहुधा वहीं रंगमंच पर ही बैठ जाते हैं ताकि दर्शक उनकी पहिचान में गलती नहीं कर सकें।

लोकनाट्यों की दूसरी अच्छाई उनकी आडम्बरहीनता है। वे कहीं भी किन्हीं स्थितियों में प्रस्तुत होने की क्षमता रखते हैं। उन्हें अपने को प्रभावी बनाने के लिए रंगीन रोशनियों तथा आधुनिक ढंग के विशाल प्रेक्षागृहों की आवश्यकता नहीं होती। न उन्हें रंगमंचीय चमत्कारिक उपकरणों की जरूरत होती है। लोकनाट्यों के पात्रों बादकों एवं गायकों में किसी प्रकार की कमजोरी नहीं चल सकती। सभी पात्रों के बुलन्द गले एवं बुलन्द हौंसले होने ही चाहिए। उनका थोड़ा-सा भी कच्चापन सारे खेल को धूलधूसरित कर सकता है। गायन की तरह नाच में भी उन्हें पूर्णरूपेण पारंगत होना चाहिए।

तीसरी विशेषता जो इन लोकनाट्यों में है वह है रंगमंचीय उपकरणों के प्रति उनकी उदासीनता। पात्रों की पोशाकें एवं उनके मुखविन्यास कितने ही फीके क्यों न हों, यदि उनका काम अच्छा है और गाने नाचने में वे तेज हैं तो उनका नाट्य कभी भी कमजोर नहीं पड़ सकता। दर्शक पात्रों की पोशाकों की उपयुक्तता एवं अनुपयुक्तता की ओर ध्यान नहीं देते। स्त्रीवेश में घूघट डाले हुए पुरुष-पात्रों के चेहरों की ओर दर्शक ध्यान नहीं देते वे केवल उनकी अदायगी को ही महत्वपूर्ण समझते हैं। राजस्थान के चिड़ावी ख्यालियों में स्त्री पात्रों की भूमिका अदा करने वाले पात्र बहुधा दाढ़ी मूछ वाले होते हैं जिनकी झलक घूघट में से छन छनकर कभी बाहर भी आ जाती है। फिर भी दर्शकों पर उनका कोई कुप्रभाव नहीं पड़ता, तथा नाटक की प्रभावोत्पादकता में कोई अंतर नहीं आता।

दुर्भाग्य से आज अनेक लोकनाट्य दर्शकों की दुर्बलता एवं उपेक्षा के कारण निम्नस्तरीय बन गए हैं, परन्तु आज से चालीस-वर्ष पूर्व यह बात नहीं थी। इन लोकनाट्यों में उच्चकोटि के नक्काड़ा, ढोलक, सारंगी, झाझ बजाने-वाले मौजूद थे। खिलाड़ी ऐसे थे जिनका सानी कोसों दूर ढूंढने पर भी नहीं मिलता था। उन्हें चुराने तथा अपहरण करने के लिए अनेकों की निगाह लगी रहती थी। उन्हें देखने सुनने को जनता कोसों दूर से पैदल चलकर डेरा डालती थी। किसी गांव में कोई मंडली टिक जाती तो इन नाटकों पर अनेक धनिक लोग अपनी थैलियां खाली कर देते थे। कई लोग तो इनके लिए कंगाल तक हो जाते थे। उनकी रंगमंचीय सजावट के लिए गांव के लोग सैकड़ों रुपया खर्च करते, सोना चांदी के जेवर पहिनने को देते, बिछाने एवं पोशाक के लिए दुकानदार सैकड़ों गज कपड़ा मुफ्त फाड़ देते थे। कई स्त्रियां भावविभोर होकर रात रातभर खेल देखती, रंगमंच पर दूर से इन कलाकारों की रागें सुनकर खाना पकाना भी भूल जातीं, तवे पर ही उनकी रोटियां जल जातीं, पनघट पर पानी भरती हुई स्त्रियां अपने घड़े वहीं छोड़ देतीं। कई स्त्रियां इन कलाकारों पर मुग्ध होकर उनके साथ भाग जातीं। पुलिस को उनपर कड़ी निगाह रखनी पड़ती थी। कुछ ही दिनों के लिए आई हुई मंडली महीनों एक ही जगह टिक

compiled and created by Bhartesh Mishra

जाती। कहते हैं अलीबख्शी की मंडली ने आज से तब्बे वर्ष पूर्व दिल्ली के लोगों को घायल कर दिया था। सांझी में ही क्यों अलवर, जयपुर, जोधपुर, बीकानेर, उज्जैन, चितौड़, इन्दौर जैसे शहरों में ये मंडलियां महीनों टिक जाती थीं। चिड़ावा की मंडलियां महीनों कलकत्ता और बम्बई के शहरियों को रसाविभोर करती थीं। इन नाट्यों में किसी प्रकार के कच्चेपन, अनाड़ीपन एवं निम्नस्तर की कल्पना की ही नहीं जा सकती थी।

अब देखना यह है कि क्या आज के नाटक में ये गुण विद्यमान है? ये लोकनाट्य कितने ताकतवर थे यह इसी से सिद्ध हो जाता है कि ये बिना साजसज्जा, भड़क-भड़क, रंगमंचीय चमत्कार के भी कितने सफल थे। इन लोकनाट्यों ने ही भारतीय नाट्य-परंपरा के मूल्यवान तत्वों को सुरक्षित रखा है। लोकनाट्य भी तो नाटक ही हैं। आज के नाटक का माध्यम शब्द है, लोकनाट्य का माध्यम स्वर, नृत्य, ताल है, जो कि शब्द से कहीं अधिक कठिन माध्यम है। आज के नाटक में रंगमंच की भव्यता चाहिए, प्रशिक्षित एवं सधे कलाकार चाहिएं, फिर भी नाटक उतने ताकतवर नहीं बनते। हम अपनी शैली, तंत्र तथा प्रस्तुतीकरण के लिए पश्चिम की तरफ भागते हैं, नाना प्रकार के विचित्र-विचित्र प्रयोग करते हैं, फिर भी सफलता हमसे कोसों दूर भागती है। परंपरा-पालन की बात हम नहीं कहते। संस्कृत नाटक का अनुकरण भी क्यों किया जाय? भारत नाट्यशास्त्र अनुसरण की भी क्या आवश्यकता है। वे नाटक आज खेलने की कोशिश भी करें तो सफल नहीं हो सकते। उनका जमाना बीत गया, दर्शक भी वैसे नहीं रहे। उनकी इतनी बारीकियों में कौन उतरे। संस्कृत भाषा आज प्रचलित भी नहीं। वे नाटक किसी विशिष्ट संस्कृत, समृद्ध एवं संस्कारी समाज के लिए थे। वे कतई जनता के नाटक नहीं थे। उनके प्रदर्शन की जगह मंदिर, मठ तथा सम्राटों के राजप्रसाद थे। वे पंडितों के देखने, करने एवं विवेचन की सामग्री थे। उनकी तरफ आज के नाट्यकर्मियों को उन्मुख होने की आवश्यकता नहीं है, न ही इस बात की आवश्यकता है कि वे लोकनाट्य की ओर उन्मुख हो और हर नाट्यप्रेमी लोकनाट्य विशेषज्ञ बन जाय। आवश्यकता तो केवल इस बात की है कि हमारे देश की यह स्वस्थ परंपरा, हम सबके सामने जो चुनौतियां प्रस्तुत कर रही है, उन्हें हम परखें, पहिचानें।

आधुनिक नाटक का सरलीकरण

एक लोकनाट्य बरसों तक लोकप्रिय बना रहता है, जबकि आज का अच्छा से अच्छा नाटक बस दीस वार प्रदर्शित होने के बाद फीका पड़ जाता है। आज के नाटक की सफलता के लिए धन की सबसे ज्यादा आवश्यकता होती है। उसके लिए अच्छे रंगमंच चाहिए; खूब प्रचार चाहिए, खर्चीले कलाकार चाहिएं, जबकि लोकनाट्य में ये सभी सहज ही बिना प्रयास के उपलब्ध हो जाते हैं। क्यों न हम उनसे प्रेरणा लें? क्यों न ऐसे नाटक लिखे जाएं? या ऐसे नृत्यनाट्य रचे जाएं जिनकी समस्त प्रेरणा लोकनाट्य से प्राप्त हो। हमारे देश में प्रतिभाओं की कमी नहीं, कलाकारों की भी कमी नहीं, फिर भी नाटकों को क्यों खर्चीला बनाया जाय? उनके लिए आधुनिक रंगशालाओं की क्यों जरूरत हो? क्यों खर्चीली साजसज्जा की आवश्यकता हो? ढूंढने से कलाकार मिल सकते हैं, केवल खोजने की निगाह चाहिए। अच्छा-सा नाटक रचिये, उसका खर्च अपने आप निकल जाएगा। आप खर्चा कम करेंगे तो कम आमद भी पर्याप्त होगी। ऐसे प्रभावी नाटक लिखेंगे जिनकी समाज को भूख है, तो दर्शक भी मिल जायेंगे। घिसेपिटे नाटक करेंगे तो कोई भी भाव नहीं पूछेगा। नाटक का माध्यम बदलना पड़े तो बदल लें। शब्द ही एक मात्र माध्यम नहीं है, बिना शब्द के भी नाटक होते हैं। स्वर भी प्रबल माध्यम बन सकता है, नृत्य तो प्रबल एवं प्रभावी माध्यम है ही। शब्द, स्वर, नृत्य, मौन सभी सम्मिलित माध्यम बन सकते हैं। कलाकारों के चुनाव के लिए क्यों बुद्धिवर्ग की ओर ही देखा जाय, अनेक ऐसी प्रतिभाएं छिपी है, जिन्हें काम चाहिए। कठपुतली भी नाटक का एक प्रबल माध्यम है। अब लोग कुछ नवीन बात चाहते हैं। यदि शब्द को ही आप नाटक में प्रधानता देना चाहते हैं तो अवश्य दें, परन्तु नाटक इस तरह से लिखिये या लिखवाइये, जो हमारे समाज और हमारी समस्याओं को सही ढंग से चित्रित करें। उसके प्रस्तुतीकरण को सरल बनाइए। लोकनाट्य से तकनीक ग्रहण कीजिए। यह प्रेरणास्रोत आपके लिए हमेशा के लिए खुला पड़ा है।

आज का आधुनिकतम नाटक केवल अभिनेताओं तक ही सीमित रह जाता है। वह दर्शकों के बीच जीता नहीं है। दर्शक अलग-थलग पड़ जाते हैं। लोकनाटक में दर्शक प्रदर्शक एकजीव हो जाते हैं। प्रदर्शक संगीत-नृत्य प्रवीण होते हैं, जबकि दर्शकवर्ग उनसे बिलकुल अनभिज्ञ। फिर वे अभिनेताओं के साथ स्पंदित होते हैं। आज के अभिनेता भी बुद्धिजीवी और दर्शक भी बुद्धि-जीवी तथा संस्कारी, फिर भी तार से तार नहीं मिलता। दोष कहां है, इसकी खोज कीजिए, अवश्य ही हमें निश्चित दिशा मिलेगी।

compiled and created by Bhartesh Mishra

परिचय

जगमोहन	पत्रकार, कला समालोचक और फिल्म विज्ञानी ।
नील गोखले	1955 में फिल्म प्रभाग के निदेशक बने तथा अप्रैल, 1970 में अतिरिक्त मुख्य निर्माता के पद से सेवा-मुक्त हुए ।
तारा रामस्वामी	दिल्ली विश्वविद्यालय से सम्बद्ध एक कालेज में स्नातकोत्तर लेक्चरर ।
ख्वाजा अहमद अब्बास	नया संसार, धरती के लाल आदि अनेक फिल्मों के लेखक, निर्देशक और निर्माता, 1969 में पद्म श्री से विभूषित ।
विक्रम सिंह	फिल्म लेक्चरर ।
सुभाष चन्द्र सरकार	अंग्रेजी और बंगाली के एक लेखक ।
जगत मुरारी	1962 से पूना स्थित भारत के फिल्म संस्थान के प्रिंसिपल ।
गोपाल दास खोसला	1961 में पंजाब के उच्च न्यायाधीश के पद से सेवा मुक्त तीन राष्ट्रीय अकादमियों की समीक्षा समिति के अध्यक्ष ।
देवी लाल सामर	हिन्दी के एक लेखक
रामचन्द्र मिश्र	वरिष्ठ अनुवादक, केन्द्रीय अनुवाद ब्यूरो, नई दिल्ली ।
प्रकाश राठौर	एक अनुवादक ।
पुरुषोत्तम चावला	अनुवादक, टेलीविजन विभाग, आकाशवाणी, नई दिल्ली।
शशि कान्त	अनुवादक, गृह मंत्रालय, नई दिल्ली ।
राममूर्ति कालिया	सहायक, शिक्षा मंत्रालय, नई दिल्ली ।
कुसुम बंसल	अनु० सहा० केन्द्रीय हिन्दी निदेशालय, नई दिल्ली।
नन्द कुमार राय	लेक्चरर देशबन्धु गुप्त कालेज, नई दिल्ली ।
शोभना सक्सेना	एक अनुवादक ।

compiled and created by Bhartesh Mishra

रजिस्टर्ड संख्या 672459

प्रबन्धक भारत सरकार मुद्रणालय, फरीदाबाद द्वारा मुद्रित, 1972

compiled and created by Bhartesh Mishra